सभी वस्तुओं में ईश्वर-बुद्धि करो,
समझो कि ईश्वर सब में है।

— स्वामी विवेकानन्द

विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष : २१, अंक ३

रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई—अगस्त—सितम्बर

* १९९१ *

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सह-सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी त्यागात्मानन्द

वार्षिक १०)

एक प्रति ३)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) २००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर-४९२ ००१ (म.प्र.)

दूरभाषा : २४५८९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(९४ वीं तालिका)

३३९७. श्री धनंजय तिवारी, अमरकंटक, शहडोल
३३९८. श्री वी. के. तिवारी, अमरकंटक, शहडोल
३३९९. श्री वी. के. शर्मा, हरदा, होशंगाबाद
३४००. श्री करनैल सिंह, राजहरा, दुर्ग
३४०१. श्री टी. आर. कश्यप, तामासिवनी: रायपुर
३४०२. श्री असीम चटर्जी, गौराकुण्ड, इन्दौर
३४०३. श्री डी. आर. रजक, जशपुरनगर, रायगढ़
३४०४. प्राचार्य, गव्हर्नमेंट गर्ल्स डिग्री कॉलेज, जशपुरनगर, रायगढ़
३४०५. श्री नन्दलाल महापात्र, जशपुरनगर, रायगढ़
३४०६. श्री अर्जुन महापात्र, जशपुरनगर, रायगढ़
३४०७. श्री सुबोध मार्कण्डेय, नई दिल्ली
३४०८. श्री रविशंकर अग्रवाल, गांधीबाग, नागपुर
३४०९. श्रीमती कमला घोष, मुटठीगंज, इलाहाबाद
३४१०. कमल सोप वर्क्स रामधीन मार्ग राजनांदगांव
३४११. श्री आर्य लाहिड़ी, ३ विधान शिशु सरणी, कलकत्ता
३४१२. श्री ररेश पारिया, नरोत्तमनगर, (अरुणाचल प्रदेश)
३४१३. श्री राजाराम पाण्डेय, बीकानेर, राजस्थान
३४१४. डॉ. पी. आर. साहू, गुन्डरदेही, दुर्ग
३४१५. वैद्य एम. डी. शर्मा, नन्दिनी रोड, भिलाई
३४१६. प्राचार्य, गव्हर्नमेंट ब्वायज़ एच. एस. स्कूल,
जशपुरनगर, रायगढ़
३४१७. श्री रामचन्द्र राव, बक्शीबाग इंदौर
३४१८. श्री प्रेमचन्दजी अग्रवाल, भाटापारा, रायपुर
३४१९. श्री राजेन्द्र अग्रवाल, दुर्ग
३४२०. श्री सुशीलकुमार अलकरा, जांजगीर, बिलासपुर
३४२१. श्री गोविन्द नारायण मिश्र, उरई, जालोन
३४२२. श्री रविन्द्रनाथ गुप्त, जशपुरनगर, रायगढ़
३४२३. श्री डी. आर. झोझरकर, जशपुरनगर, रायगढ़
३४२४. श्रीमती अरुणा कृष्णकुमार भण्डारकर, भोपाल

गीतातत्व-चिन्तन

भाग २

(मूल, अन्वय, हिन्दी अर्थ एवं व्याख्या सहित)

स्वामी आत्मानन्द प्रणीत

कुछ वर्ष पूर्व स्वामी आत्मानन्दजी के सुप्रसिद्ध एवं बहुचर्चित गीता-प्रवचनों की शृंखला में से प्रथम ४४ का 'गीतातत्त्व-चिन्तन' भाग-१ के रूप में प्रकाशन हुआ था, जो काफी लोकप्रिय हुआ।

इसके दूसरे भाग में कुल ३४ प्रवचन संकलित हुए हैं, जिनमें तीसरे अध्याय पर १०, चौथे अध्याय पर १२, पाँचवें अध्याय पर ४ और छठे अध्याय पर ८ प्रवचन हैं। इस प्रकार इसमें तीसरे से लेकर छठे अध्याय तक की विशद व्याख्या है।

पृष्ठ संख्या १६—४६०

मूल्य—सामान्य संस्करण ४०/- विशेष सस्करण ५०/-

डाक व्यय अलग : रजिस्टर्ड डाक से ८/-, वी.पी.पी. से १०/-

रजिस्टर्ड डाक से अपनी प्रति पाने के लिए

डाक व्यय सहित पूरा मूल्य मनिआर्डर से भेजें।

पता : रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर-४९२००१ (म.प्र.)

अनुक्रमणिका

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २९] जुलाई-अगस्त-सितम्बर ★ १९९१ ★ [अंक ३

साधना में शीघ्रता

यावत्सस्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महा-
न्संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ।।

जब तक शरीर स्वस्थ और निरोग है, जब तक बुढ़ापा दूर है, जंब तक इन्द्रियाँ सबल व सक्षम हैं और जीवनी-शक्ति का क्षय नहीं हुआ है, प्रज्ञावान व्यक्ति को चाहिए कि वह तभी आत्मकल्याण (मोक्ष प्राप्ति) का यथासाध्य प्रयास कर ले, क्योंकि मकान में आग लग जाने पर कूंआ खोदने का काम प्रारम्भ करने से क्या लाभ ?

—भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतकम्' ७५

अग्नि-मंत्र

(श्री हरिदास बिहारीदास देसाई को लिखित)

शिकागो

२९ जनवरी, १८९४

प्रिय दीवान जी साहब,

आपका पिछला पत्र मुझे कुछ दिन पहले मिला। आप मेरी दुःखिनी माँ एवं भाइयों से मिलने गये थे, यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई। किन्तु आपने मेरे हृदय के एकमात्र कोमल स्थान को स्पर्श किया है। दीवान जी, आपको यह ज्ञात होगा कि मैं कोई पाषाणहृदय पशु नहीं हूँ। सारे संसार में यदि मैं किसी से प्रेम करता हूँ, तो वह है मेरी माँ। फिर भी मेरा विश्वास था और अब भी है कि यदि मैं संसार-त्याग न करता, तो जिस महान् आदर्श का, मेरे गुरुदेव श्रीरामकृष्ण परमहंस उपदेश करने आये थे, उसका प्रसार न होता; और वे नवयुवक कहाँ होते, जो आजकल के भौतिकवाद और भोग-विलास की उत्ताल तरंगों को परकोटे की तरह रोक रहे हैं? उन्होंने भारत का बहुत कल्याण किया है, विशेषतः बंगाल का, और अभी तो काम आरम्भ ही हुआ है। प्रभु की कृपा से ये लोग ऐसा काम करेंगे, जिसके लिए सारा संसार युग युग तक इन्हें आशीर्वाद देगा। अतः मेरे सामने एक ओर तो था—भारत एवं सारे संसार के धर्मों के विषय में मेरी परिकल्पना और उन लाखों नरनारियों के प्रति मेरा प्रेम, जो युगों से डूबते जा रहे हैं, और कोई उनकी सहायता करने वाला नहीं है—यहाँ तक कि कोई उनकी ओर ध्यान तक नहीं देता और दूसरी ओर था अपने सगे और प्रियजनों को दुःखी करना।

मैंने पहला मार्ग चुना, 'शेष सब प्रभु करेंगे।' यदि मुझे किसी बात का विश्वास है, तो वह यह कि प्रभु मेरे साथ है। जब तक मैं सच्चा निकष्पट हूँ, तब तक कोई मेरा सामना नहीं कर सकता, क्योंकि प्रभु ही मेरे सहायक हैं। भारत में अनेकानेक व्यक्ति मुझे समझ न सके और वे बेचारे समझते भी कैसे क्योंकि खाने-पीने आदि के परे कभी उनका ध्यान ही नहीं गया। आप जैसे कोई कोई उदार हृदयवाले मनुष्य मेरा मान करते हैं, यह मैं जानता हूँ। प्रभु आपका भला करें। परंतु मान हो या अपमान,मैंने तो इन नवयुवकों को संगठित करने के लिए ही जन्म लिया है। यही नहीं, प्रत्येक नगर में सैकड़ों और भी मेरे साथ सम्मिलित होने को तैयार हैं, और मैं चाहता हूँ कि इन्हें अप्रतिहत गतिशील तरंगों की भाँति भारत में सब ओर भेजूँ, ताकि वे दीन-हीनों एवं पददलितों के द्वार पर सुख, नैतिकता, धर्म एवं शिक्षा पहुँचा सकें। और इसे मैं करूँगा, या मरूँगा।

हमारे देश के लोगों में न विचार है, न गुणग्राहकता। इसके विपरीत एक सहस्र वर्ष के दासत्व के स्वाभाविक परिणामस्वरूप उनमें भीषण ईर्ष्या है, स्वभाव सन्देहशील है, जिसके कारण वे प्रत्येक नये विचार का विरोध करते हैं। फिर भी प्रभु महान् हैं।

आरती तथा अन्य विषय, जिनका आपने उल्लेख किया है—भारत के सभी मठों में सब जगह प्रचलित हैं, और वेदों में गुरु की पूजा पहला कर्तव्य कहा गया है। इसमें गुण और दोष, दोनों ही पक्ष हैं, परन्तु आपको याद रखना चाहिए कि हमारा यह एक अनुपम संघ है, और हममें से किसी को भी यह अधिकार नहीं है कि वह अपने विश्वास दूसरों पर बलपूर्वक थोपे। हममें से बहुत से लोग किसी

प्रकार की मूर्ति-पूजा में विश्वास नहीं रखते, परन्तु दूसरों की मूर्ति-पूजा का खण्डन करने का उन्हें कोई अधिकार नहीं, क्योंकि ऐसा करने से हमारे धर्ममत का पहला ही सिद्धान्त टूट जाता है। फिर ईश्वर को भी मनुष्य के रूप में, और मनुष्य के माध्यम से ही जाना जा सकता है। प्रकाश का स्फुरण सब स्थानों में होता है—अँधेरे से अँधेरे कोने में भी—परन्तु वह दीपक के रूप में ही मनुष्य के सामने दृष्टिगम्य होता है। इसी तरह यद्यपि ईश्वर सर्वत्र है, परन्तु हम एक विराट् मनुष्य के रूप में ही उसकी कल्पना कर सकते हैं। ईश्वर-सम्बन्धी जितनी भी भावनाएँ हैं—जैसे कि वे दयालु पालक हैं, सहायक हैं, रक्षक हैं—ये सब मानवीय भावनाएँ हैं और साथ ही किसी मानवविशेष में ही इनकी अभिव्यक्ति होनी है, चाहे उसे गुरु मानिए, चाहे ईश्वरीय दूत या अवतार। मनुष्य अपनी प्रकृति से बाहर नहीं जा सकता, वैसे ही जैसे आप अपने शरीर से उछलकर बाहर नहीं आ सकते। यदि कुछ लोग अपने गुरु की उपासना करें, तो इसमें हानि क्या है, विशेषतः जब वह गुरु सभी ऐतिहासिक पैगम्बरों की सम्मिलित पवित्रता से सौगुना अधिक पवित्र रहा हो? यदि ईसा, कृष्ण और बुद्ध की पूजा करने में कोई हानि नहीं है, तो इस मनुष्य को पूजने में क्या हानि हो सकती है, जिसके विचार या कर्म को अपवित्रता कभी छू तक नहीं पायी, जिसकी अन्तर्दृष्टिप्रसूत बुद्धि तथा अन्य सभी एकांगी पैग़म्बरों की बुद्धि के बीच आकाश पाताल का अंतर है? दर्शन, विज्ञान या अन्य किस भी विद्या की सहायता न लेकर इसी महापुरुष ने जगत् के इतिहास में सर्वप्रथम सत्य का सभी धर्मों में निहित होने की ही नहीं, वरन् सभी धर्मों के सत्य होने की भावना का जगत् में प्रचार

किया एवं यही सत्य वर्तमान समय में संसार में सर्वत्र प्रतिष्ठित हो रहा है।

परन्तु यह भी अनिवार्य नहीं है; और संघ के भाइयों में से किसी ने भी आपसे यह नहीं कहा कि सबको उनके गुरु की पूजा करनी चाहिए। नहीं,नहीं, नहीं। परन्तु साथ ही हममें से भी किसी को अधिकार नहीं कि वह किसी दूसरे को पूजा करने से रोके। क्यों? क्योंकि ऐसा करने से इस अद्वितीय संगठन का—जहाँ दस देश और दस विचार के दस मनुष्य परस्पर खूब घुल-मिलकर रह रहे हैं—जो संसार में पहले कभी देखने में नहीं आया—पतन हो जाएगा। थोड़ा धीरज धरिए, दीवान जी,प्रभु दयालु और महान् हैं, अभी आपको बहुत कुछ देखना है।

हम न केवल सब धर्मों के प्रति सहिष्णुता रखते हैं, वरन् उन्हें स्वीकार भी करते हैं और प्रभु की सहायता से मैं सारे संसार में इसका प्रचार करने का प्रयत्न भी कर रहा हूँ।

प्रत्येक मनुष्य एवं प्रत्येक राष्ट्र को महान् बनाने के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—

१. अच्छाई की शक्ति में विश्वास।

२. ईर्ष्या और सन्देह का अभाव।

३. भला बनने और भला करने में प्रयत्नशील लोगों की सहायता।

क्या कारण है कि हिन्दू राष्ट्र अपनी अद्भुत बुद्धि एवं अन्यान्य गुणों के रहते हुए भी बिखर गया? मेरा उत्तर होगा—ईर्ष्या। इस अभागी हिन्दू जाति की भाँति इतनी बुरी तरह एक दूसरे से ईर्ष्या करनवाली एक दूसरे के नाम-यश से डाह करने वाली कोई दूसरी

जाति अब तक नहीं हुई, और यदि आप कभी पश्चिमी देशों में आयें, तो यहाँ सबसे पहले आपको इसी के अभाव का बोध होगा।

भारत में तीन मनुष्य पाँच मिनट के लिए भी एक साथ मिलकर कोई काम नहीं कर सकते। हर एक मनुष्य अधिकार प्राप्त करने का प्रयास करता है और अन्तत: पूरे संगठन की दुरवस्था हो जाती है। भगवान्! भगवान्! हम ईर्ष्या करना कब छोड़ेंगे? ऐसे देश में और विशेषत: बंगाल में ऐसे व्यक्तियों के एक संगठन का निर्माण करना जो परस्पर मतभेद रखते हुए भी अटल प्रेमसूत्र से बँधे हुए हों, क्या आश्चर्यजनक नहीं है? यह संघ बढ़ता जाएगा।

अद्‌भुत उदारता के साथ-साथ अनन्त शक्ति व अभ्युदय की यह भावना सम्पूर्ण राष्ट्र में अवश्य फैल जाय तथा गुलामों की हमारी इस जाति को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त उत्कट अज्ञता, द्वेष, जातिभेद, प्राचीन अन्धविश्वास व ईर्ष्या के बावजूद यह हमारे देश के रोम-रोम में समा जाय तथा उसे विद्युत संचार द्वारा उद्-बोधित करे।

ऐसे दो-चार सत्पुरुषों में आप भी एक हैं, जो इस विराट् निष्क्रिय महासागर में शिलाखण्ड की भाँति अविचलित खड़े हैं। प्रभु आपका सदा सर्वदा कल्याण करें।

सदैव आपका,
विवेकानन्द

निर्भयता

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के 'चिन्तन' कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर विचारोत्तेजक तथा उद्बोधक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। पाठकों के अनुरोध पर उन्हें 'विवेक ज्योति' में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। प्रस्तुत लेख 'आकाशवाणी' रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। –स.)।

निर्भयता मनुष्य की एक अत्यन्त दुर्लभ विभूति है। इसीलिए उपनिषदों में बार बार बड़े ऊर्जस्वित स्वरों में निर्भय होने की सीख दी गई है। भारत में निर्भयता की धारणा इस तथ्य पर आधारित है कि भले ही शरीर का नाश हो जाए पर आत्मा का कभी विनाश नहीं होता। जो नाशवान् है उसके लिए चिन्ता करना व्यर्थ है। वह आज नहीं तो कल नष्ट होने वाला है। किन्तु आत्मा तो किसी काल में नष्ट नहीं होता। निर्भयता की यह धारणा आत्मा की अमरता के सिद्धान्त पर आधारित है। यह सिद्धान्त हममें अद्भुत साहस का संचार करता है। हम मर्त्यशील शरीर नहीं है, हम तो अजर-अमर-अविनाशी आत्मतत्त्व हैं। शरीर का चिन्तन दुर्बलता को जन्म देता है, आत्मा का विचार हममें अक्षय शक्ति का संचार करता है। शरीर को तुच्छ मानने से ही महत् कार्य सम्पादित होते हैं। जो शरीर को तुच्छ मानता है, वही त्याग कर सकता है, वही समाजदेवता, राष्ट्रदेवता या विश्वदेवता की सेवा के लिए अपने जीवन को निछावर कर सकता

है। शरीर को महान् मानने वाले कभी महान् नहीं बने। शरीर ही आसक्ति का और समस्त दुर्बलता का कारण है। शरीर सबसे पहले हमें इन्द्रियों की तुच्छ सीमा में बाँधता है। उस दायरे से किसी प्रकार निकले तो परिवार की सीमा हमें बाँध लेती है। उससे आगे किसी प्रकार बढ़े तो जाति की दुर्भेद्य दीवार अपने शिकंजे में हमें जकड़ लेती है। आज जाति-वर्ण आदि के भेदों ने राष्ट्र की कैसी दुर्दशा कर रखी है। हमारा सारा चिन्तन इन्हीं तंग दायरों में बँधा होता है। जब तक हम इस सीमा के ऊपर नहीं उठेंगे, तब तक हमारे सारे प्रयत्नों के बावजूद राष्ट्र ऊपर नहीं उठ सकेगा।

साहस दो प्रकार का होता है। एक प्रकार का साहस है—तोप के मुँह में दौड़ जाना। दूसरे प्रकार का साहस है—अपने को आत्मा मानकर विश्वास करना। कहते हैं कि सिकन्दर महान् जब भारत आया तो वह यहाँ महात्माओं की खोज में लग गया। उसके गुरु ने उससे कहा था कि जब तुम भारत जाओ, तो वहाँ से एक तत्वज्ञानी महात्मा को अपने साथ सम्मानपूर्वक लेते आना। उसस तुम्हारा और तुम्हारे देश का कल्याण होगा। जब सिकन्दर महान् ने एक ऐसे ही महात्मा को खोज निकाला और उन्हें अपने साथ देश ले जाने की इच्छा प्रकट की तो साधु ने इसे स्वीकार नहीं किया और कहा, "मैं इस वन में बड़े आनन्द से हूँ।" सिकन्दर बोला, "मैं समस्त पृथ्वी का सम्राट हूँ। मैं आपको असीम ऐश्वर्य और उच्च पद-मर्यादा दूँगा।" साधु बोले, "ऐश्वर्य, पद-मर्यादा आदि किसी बात की मेरी इच्छा नहीं।" तब सम्राट ने साधु को डर दिखाते हुए कहा, "यदि आप मेरे साथ नहीं

चलेंगे तो मैं तलवार से आपको काट डालूँगा ।" इस पर साधु बहुत हँसे और बोले, "राजन ! आज तुमने अपने जीवन में सबसे मूर्खतापूर्ण बात कही । तुम्हारी क्या हस्ती कि मुझे मारो ? सूर्य मुझे सुखा नहीं सकता, आग मुझे जला नहीं सकती, कोई शस्त्र मुझे काट नहीं सकता, क्योंकि मैं जन्मरहित, अविनाशी आत्मा हूँ ।" यह आध्यात्मिक साहस है ।

स्वामी विवेकानन्द ऐसा ही साहस अपने देशवासियों में देखना चाहते थे । वे कहते हैं—"हे नर-नारियो ! उठो, आत्मा के सम्बन्ध में जाग्रत होओ, सत्य में विश्वास करने का साहस करो । संसार को कोई सौ साहसी नर-नारियों की आवश्यकता है । अपने में वह साहस लाओ, जो सत्य को जान सके, जो जीवन में निहित सत्य को दिखा सके, जो मृत्यु से न डरे, प्रत्युत उसका स्वागत करे, जो मनुष्य को यह ज्ञान करा दे कि वह आत्मा है और सारे जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो उसका विनाश कर सके । तब तुम मुक्त हो जाओगे ।" कवि विवेकानन्द गाते हैं—

"साहसी जो चाहता है नाश, मिल जाना मरण से ।
मृत्यु की गति नाचता है, माँ उसी क पास आई ।।"

संसार को यदि किसी एक धर्म की
शिक्षा देनी हो तो वह है 'निर्भयता' ।
—स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्ण वचनामृत-प्रसंग

पैंतीसवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्‌बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशन किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय रायपुर में अध्यापक हैं। —स.)

गिरीश और नरेन्द्र का तर्क

गिरीश के घर में ठाकुर भक्तों से घिरे हुए ईश्वरचर्चा कर रहे हैं। "नरेन्द्र नहीं मानते कि ईश्वर कभी मनुष्य शरीर धारण करके अवतीर्ण हो सकते हैं। इधर गिरीश का ज्वलन्त विश्वास है कि ईश्वर प्रत्येक युग में अवतरित होते हैं और मनुष्य शरीर धारणकर मृत्यु लोक में आते हैं। श्रीरामकृष्ण की बड़ी इच्छा है कि इस सम्बन्ध में दोनों विचार करें।" उन्होंने दोनों को तर्क-वितर्क में लगा दिया तथा बीच बीच में स्वयं भी अपना मत दे रहे हैं। नरेन्द्र ने अवतारवाद का खण्डन करते हुए कहा—"ईश्वर अनन्त है, उनकी धारणा करना क्या हम लोगों की शक्ति का काम है? वे सब के भीतर हैं, केवल किसी एक के भीतर वे आये हैं, ऐसी बात नहीं।" ठाकुर नरेन्द्र का समर्थन करते हुए कहते हैं, "इसका जो मत है, वही मेरा भी है।

वे सब जगह हैं, परन्तु इतनी बात है कि शक्ति की विशेषता है।"

इस उक्ति में गूढ़ अर्थ निहित है। सर्वत्र एक ही ब्रह्म का प्रकाश है, लेकिन सभी व्यक्ति समान नहीं हैं--किसी में अधिक शक्ति है और किसी में कम। यहाँ पर वैषम्य प्रत्यक्ष है। रेत भी ब्रह्म है और तिल भी, लेकिन रेत को पेरने से क्या तेल निकलेगा? ब्रह्म अनन्त है, अविभाज्य है, पर व्यवहारिक जगत में उसकी अभिव्यक्ति में एक तारतम्य होता है। इस पार्थक्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। तत्वतः ब्रह्म सर्वत्र होते हुए भी उसकी अभिव्यक्ति सर्वत्र समान नहीं है।

राम कहते हैं, "इस तरह के वृथा तर्क से क्या फायदा है?" श्रीरामकृष्ण थोड़े नाराज से होकर, "नहीं, नहीं, इसका एक खास अर्थ है।" अर्थात् वे चाहते कि चर्चा हो। परन्तु नरेन्द्र ईश्वर को वाक्य, मन और बुद्धि से अगोचर कहते हैं। श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "नहीं, वे शुद्ध बुद्धि गोचर हैं। . . . ऋषियों ने शुद्ध बुद्धि के द्वारा शुद्ध आत्मा का साक्षात्कार किया था"--यह हुआ स्वरूप में अवस्थान।

गिरीश नरेन्द्र से कहते हैं, "मनुष्य में उनका अवतार न हो तो समझाये फिर कौन? मनुष्य को ज्ञान-भक्ति देने के लिए वे देह धारण करते हैं।" अभिप्राय यह है कि भगवान अनन्त हैं। सान्त मनुष्य अपनी सीमित बुद्धि के द्वारा उनकी उपलब्धि करने की चेष्टा कर रहा है। लेकिन यदि कोई उसे रास्ता न दिखा देता तो यह सम्भव नहीं होता। जो अपने जीवन में दिखा दे कि इस सीमा का अतिक्रमण किया जा सकता है और कह दे कि 'वह देखो तुम्हारा घर'--वे ही अवतार हैं। उनके भीतर असा-

धारण शक्ति प्रगट हुई है, इसलिए मानवीय सीमा से बाहर की वस्तु वे दिखा सकते हैं। बाइबिल में Original Sin की बात कही गयी है—मनुष्य में प्रारम्भ से ही अपूर्णता, पाप अथवा त्रुटि है। जब तक ईसा के समान कोई मानव देह धारण करके आकर रास्ता न दिखा दे तब तक उससे वह स्वयं मुक्त नहीं हो सकता। ठाकुर इस बात को और स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि अवतार सीमित मानव देहधारी होकर आने पर भी साधारण मानव नहीं हैं। अपनी असाधारण शक्ति के द्वारा वे अन्य लोगों को मुक्ति का मार्ग दिखा सकते हैं। अन्तर्यामी के रूप में वे सदा हमारा नियंत्रण करते हैं, पथ-निर्देश करते हैं। हम अपने कलुषित दृष्टि तथा मन के द्वारा अन्तःकरण के उस निर्देश को समझ नहीं पाते। इसीलिए अवतार आकर अपने जीवन और आचरण के द्वारा सबको वह तत्त्व समझा देते हैं।

विशिष्टाद्वैतवाद

श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "शंकर ने जो कुछ समझाया है, वह भी है और रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद भी है।" नरेन्द्र पूछते हैं, "विशिष्टाद्वैतवाद क्या है?" श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "विशिष्टाद्वैत रामानुज का मत है। अर्थात् जीव-जगत विशिष्ट ब्रह्म। सब मिलकर एक।" ठाकुर यहाँ पर कूटयुक्तियों, तर्क-वितर्क में न जाकर विशिष्टाद्वैतवाद का सार बता रहे हैं। वे कहते हैं—जैसे एक बेल। उसमें खोपड़ा अलग है, बीज अलग है और गुदा अलग है। बेल का वजन जानने के लिए क्या केवल गूदा तौलने से काम चलेगा? "खोपड़े और बीजों को निकालकर गूदे को ही लोग असल चीज समझते हैं। फिर विचार करके देखो—जिस वस्तु

का गूदा है, उसी का खोपड़ा भी है और उसी के बीज भी। पहले नेति नेति करके जाना पड़ता है; जीव नेति, जगत नेति– इस तरह का विचार करना चाहिए, ब्रह्म ही वस्तु है और सब अवस्तु, फिर यह अनुभव होता है – जिसका गूदा है, खोपड़ा और बीज भी उसके हैं; जिसे ब्रह्म कहते हो, उसी से जीव और जगत भी हुए हैं। जिसकी नित्यता है, लीला भी उसी की है। इसीलिए रामानुज कहते थे, जीव-जगत-विशिष्ट ब्रह्म। इसे ही विशिष्टाद्वैतवाद कहते हैं।"

विशिष्टाद्वैतवाद तत्त्वतः अद्वैतवाद है। तथापि उसके भीतर स्वगत-भेद स्वीकार करते हैं। स्वगत-भेद अर्थात् अपने ही भीतर भेद! जैसे एक वृक्ष है—उसका तना, शाखाएँ, फूल, फल, पत्ते इत्यादि हैं। ये सब वृक्ष के ही अंग हैं, परन्तु परस्पर भिन्न हैं। तना डाल नहीं है डाल पत्ता नहीं है, पत्ता फूल या फल नहीं है; फिर भी सब मिलकर वृक्ष है। वृक्ष कहने से जैसे पूरे का बोध होता है, उसी प्रकार ब्रह्म अखण्ड और सर्वरूप है—वेदान्त में इन दोनों ही सिद्धान्तों की समर्थक श्रुतियाँ हैं—'सर्वकामः सर्वरसः सर्वगन्धः'—वे सर्वरूप हैं। पुनः कहते हैं, 'अशब्दम्, अस्पर्शम्, अरूपम्, अव्ययम् तथाऽरसम्'— इस प्रकार नेति नेति करके, जो ब्रह्म नहीं है, उसे छोड़ते हुए, ब्रह्म वस्तु तक पहुंचना होता है। उसके बाद देखने में आता है कि जिसे छोड़ा गया था, वह भी ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' – जो कुछ देख रहा हूं, सब ब्रह्म है – विशिष्टाद्वैतवादी इसी को अपना समर्थक श्रुति मानते हैं।

श्रुति की विभिन्न व्याख्याएँ

अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत – सभी की समर्थक श्रुतियाँ हैं। क्योंकि इन सभी वादियों ने श्रुति को प्रमाण माना है। आश्चर्य की बात यह है कि केवल नास्तिकों को छोड़ सभी आस्तिकों ने वेद को माना है। यहाँ तक कि जिस मत में ईश्वर को न मानकर भी वेदों को माना गया है, उसे भी आस्तिकवाद कहा गया है। सांख्य के अनुयायी निरीश्वरवादी होते हुए भी वेद को मानते हैं, अतः आस्तिक हैं। इसी तरह मीमांसकों के एक मत में ईश्वर को नहीं मानते, तो भी वे आस्तिक कहलाते हैं। योग के एक मत में ईश्वर को प्रमाणित करने की युक्ति नहीं है—'ईश्वरासिद्धिः प्रमाणाभावात्'—प्रमाण नहीं है, इसलिए ईश्वर असिद्ध है। फिर भी उसे आस्तिक दर्शन कहा जाता है, नास्तिक नहीं। वेद को जो न माने वह नास्तिक है। ये लोग वेद को प्रमाण मानते हैं, पर अपने अपने मतानुसार वेद की व्याख्या करते हैं। वेद पर प्रतिष्ठित होकर भी अपने अपने मत को भिन्न दिखाया जाता है। अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी और द्वैतवादी तीनों ही कहते हैं कि वेद ने हमारे मत की स्थापना की है। वेद में अपने मत की समर्थक श्रुति पा लेने पर, वे अपने को प्रधानता देते हुए अन्य अर्थवाचक वाक्यों की भिन्न प्रकार से व्याख्या करते हैं। सब को यही करना पड़ता है।

'उनकी इति नहीं की जा सकती'

ठाकुर एक नया मत बताते हैं—सभी एक एक पथ हैं, सभी मतवाद सत्य हैं। अर्थात् साधनरूप में स्वीकार करके चलने पर जो हमें परम तत्त्व तक पहुँचा दे, वही सत्य है। ठाकुर के इस मत को अंगरेजी में कहेंगे –

Pragmatic View (व्यवहारिक दृष्टि) । ठाकुर का मत है कि जिस पर चलकर तुम लोग चरम अनुभूति तक पहुँच रहे हो, ये सभी रास्ते हैं, तुम सोचते हो कि केवल यही चरम अनुभूति है, बाकी सब नहीं—यह बात तुमसे किसने कही ? वे साकार हैं, वे निराकार हैं, फिर साकार और निराकार से परे भी हैं । वे सगुण हैं, निर्गुण हैं और भी कितना सब हैं । ठाकुर कहते हैं, "ईश्वर वस्तु की कभी इति नहीं करनी चाहिए । तुम लोग अपनी छटाक भर बुद्धि से ऐसा निर्णय मत करो कि वे यह हो सकते हैं—और यह नहीं । महिम्नस्तोत्र में है—'न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत् त्वं न भवसि' (२६)—पर हम तो जगत में ऐसा कोई तत्त्व नहीं जानते, तो जो तुम नहीं हो । तुम सब हो सकते हो । इसीलिए ठाकुर ने 'इति' न करने पर जोर दिया है । हम यदि कहें कि वस्तुतः वे अद्वैतवादी थे, अन्य वादों को उन्होंने अंशतः स्वीकार किया है, तो यह सत्य नहीं है । उन्होंने किसी भी तत्त्व को आंशिक रूप से नहीं, पूर्णरूप से स्वीकार किया है । यहीं पर श्रीरामकृष्ण का वैशिष्ट्य है । यह अद्वैतवाद पर प्रतिष्ठित होकर, अन्यान्य मतों को उपेक्षा या अवज्ञा के भाव से मान लेना नहीं है । यह तो सभी मतों की सम्पूर्ण स्वीकृति है । माण्डूक्यकारिका में कहा गया है—

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढ़म्।
परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते ।।

द्वैतवादीगण अपने-अपने सिद्धान्त की प्रणाली पर दृढ़तापूर्वक निष्ठा रखकर एक-दूसरे का विरोध करते हुए कहते हैं कि वे यह हो सकते हैं और यह नहीं । द्वैतवादियों के वर्ग में विशिष्टाद्वैत, शिवाद्वैत , शुद्धाद्वैत तथा और भी

न जाने कितने वाद आते हैं। अद्वैत एवं केवलाद्वैत को छोड़ बाकी सभी द्वैत की श्रेणी में आते हैं। क्योंकि उन्होंने एक मे अधिक तत्व को स्वीकार किया है। एक से अधिक तत्व को स्वीकार करने से ही द्वैत होता है। एकमात्र अद्वैत-वेदान्त ही किसी भी हालत में द्वैत के साथ समझौता नहीं करता है, 'अयं न विरुध्यते।' वस्तुत: यह मीमांसा उदार नहीं है। उनकी दृष्टि में सभी मत मिथ्या हैं, अत: वे किसी के साथ विवाद नहीं करते। मिथ्या के साथ क्या वे विवाद करेंगे? यह तो उदार मीमांसा नहीं हुई।

अथवा यदि हम कहें कि ईश्वरानुभूति के बाद भगवान दया करके यदि उसे अद्वैतवाद में प्रतिष्ठित कर दें तो वह अद्वैतवादी होगा, इससे तो मीमांसा नहीं होती। क्योंकि इसके द्वारा यह समझाया जा रहा है कि केवल अद्वैतवाद ही सिद्धान्त है और द्वैतवाद—वह तो मानों मार्ग में विश्राम करने के स्थान—सरायखाने के समान है।

श्रीरामकृष्ण के मतानुसार सगुण हो या निर्गुण, प्रत्येक भाव में ईश्वर का ही आस्वादन होता है। जो सगुण हैं वे ही निर्गुण हैं। यह जरूरी नहीं है कि सगुण से निर्गुण में जाना ही होगा, बल्कि उन्होंनें इसका विपरीत क्रम भी कहा है—निर्गुण से भी सगुण में आया जा सकता है, इनमें कौन सी अंतिम स्थिति है, यह कहा नहीं जा सकता। क्योंकि ईश्वर का अंत नहीं है, उनके अनंत प्रकार हैं। यद्यपि एक स्थान पर ठाकुर ने अद्वैत ज्ञान को अंतिम अवस्था कहा है तथापि आगे यह भी कहा है कि अद्वैत ज्ञान के बाद भी कुछ रह जाता है। अज्ञानी, ज्ञानी, विज्ञानी–

किसी ने दूध के बारे में सुना है, किसी ने देखा है और कोई उसे पीकर बलवान हुआ है। उसी प्रकार किसी ने ब्रह्म तत्व को सुना है, किसी ने अनुभव किया है और कोई उसे अपने जीवन में ओत-प्रोत अनुभव कर ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो गया है। तीन स्तर हैं—ब्रह्मविद् ब्रह्मविद्-वरीयान् और ब्रह्मविद्वरिष्ठ—तत्व एक ही है, पर उसके अनन्त पहलू हैं। ठाकुर ऐसा नहीं कहते कि एक मत सत्य है और बाकी सब मिथ्या हैं।

जैसा कि बाइबिल में कहा गया है कि भगवान के मंदिर में जाने के प्रवेशद्वार अनेक हैं लेकिन अंदर भगवान एक ही हैं। भगवान एक हैं तो भी सबके समक्ष वे एक ही प्रकार से प्रतिभात नहीं होते। किसी के लिए वे निर्गुण हैं तो किसी के लिए विविध गुणों से सम्पन्न हैं। किसी के सामने असि तो किसी के सामने वंशी तथा और भी न जाने कितना क्या-क्या धारण करके वे दर्शन देते हैं। उनका स्वरूप अनन्त वैचित्र्य से युक्त है, उनमें से किसी भी रूप में अस्वीकार न कर, उन सबको समान रूप में सत्य मान कर ग्रहण करना ही ठाकुर का मत है।

ठाकुर का यह विशिष्ट सिद्धान्त हमें विस्मित कर देता है। निरक्षर श्रीरामकृष्ण वेदान्त का कौन सा सिद्धान्त लेंगे! तथापि यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो विभिन्न विवादमान समस्त विवादों को समाप्त कर सकता है। ईश्वर वैचित्र्यपूर्ण हैं और इस विचित्र रूप में ही यहाँ उन्हें स्वीकार किया जा रहा है। यदि कोई यह कहें कि 'वे यह हैं और यह नहीं हो सकते', तो फिर उनका ज्ञान सीमित है। उन्होंने भगवान का केवल एक भाव से ही आस्वादन किया है, अन्य भावों से नहीं।

ठाकुर ने गिरगिट का दृष्टान्त दिया है। उसे देखने के बाद कोई कहता है कि वह लाल है, फिर कोई उसे पीला, कोई नीला और कोई हरा कहता है। इस पर वाद-विवाद चल रहा है। हर एक की जानकारी सही है, पर सीमित है। जो उसी वृक्ष के नीचे रहता है वही गिरगिट को लाल, नीला, पीला, हरा, सफेद--सब रंगों में देखता है; फिर कभी देखता है कि उसका कोई रंग नहीं। केवल वही समझा सकता है क्योंकि बाकी सबकी जानकारी सीमित है। श्रीरामकृष्ण ने स्वयं उसका साक्षात्कार किया है इसीलिये वे इस गिरगिट को जानते हैं। भगवान के बहु-रूपों को अस्वीकार न करना ही उनका एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है।

अपने-अपने मत को प्रधान मानना

अद्वैतवाद का चश्मा लगाकर यदि हम ठाकुर के सिद्धान्त की व्याख्या करें तो हम उसे विकृत कर डालेंगे। अद्वैत की युक्ति के अनुसार केवल अद्वैत ही सत्य है और बाकी सब मिथ्या है। क्योंकि उनकी युक्ति उनके अनुभव पर आधारित है। अनुभव युक्ति का आधार तो है, लेकिन क्या एक ही अनुभूति यथेष्ट है? जिन्हें ईश्वर के अनेक रूपों का अनुभव नहीं हुआ है, वह किस प्रकार युक्ति के द्वारा उनके अनेक रूप समझेगा? द्वैतवादी कहते हैं, कि अद्वैतवाद चरम सीमा नहीं है। 'यदद्वैतं ब्रह्मोपनिषदित-दप्यस्य तनुभा:'— उपनिषद में जिस अद्वैत को ब्रह्म कहा गया है वह श्रीकृष्ण की अंगकान्ति है। यह तो बड़ी भयानक बात हुई, शुरू हो गया विवाद। ज्ञान के अनुसार, युक्ति के द्वारा किसी ने उसका ब्रह्म तो किसी ने श्रीकृष्ण के रूप में अनुभव किया। अब चरम तत्व किस प्रकार

प्रमाणित हो? क्या तर्क या लड़ाई-झगड़े के द्वारा ? जो लोग शास्त्र की दुहाई देकर झगड़ा कर रहे हैं, उन्हें बिन्दुमात्र भी अनुभव नहीं हुआ है । शास्त्र का सिद्धान्त क्या है, इसका कौन निर्णय करेगा ? युक्ति जितनी दूर तक जाय उतनी दूर ले जाना अच्छा है। एक अन्धा व्यक्ति गाय की पूंछ पकड़ कर बैकुण्ठ जा रहा था । कँटीले वन के भीतर से होकर गुजरते समय जब उसका शरीर छिल कर लहूलुहान हो गया तो अन्धा सोच रहा था कि मैं बैकुण्ठ में विचरण कर रहा हूँ—यह अनुसरणीय नहीं है। अतः युक्ति अवलम्बनीय अवश्य है, पर साथ ही यह भी स्मरण रखना होगा कि हमारी युक्ति हमारे अनुभवों पर आधारित है, दूसरों के अनुभव पर नहीं । और अनुभव को भी श्रुति एवं युक्ति की सहायता से जाँच कर लेनी होगी । यदि ऐसा न हो तो फिर पागल की अनुभूति को भी स्वीकार करना पड़ेगा । एक बड़ी सुन्दर बात है—जो वस्तु प्रकृति से परे है, विचार के अगोचर है उसकी व्याख्या विचार बुद्धि अथवा युक्ति की सहायता से न करना । 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत' —जो सब विषय विचार के अगोचर हैं उन्हें तर्क के द्वारा समझने का प्रयास मत करना । अतः वेदों के अर्थ को लेकर विवाद चल रहा है। भिन्न-भिन्न लोगों ने भिन्न-भिन्न व्याख्या की है। वस्तुतः इसके द्वारा चरम सिद्धान्त तक नहीं पहुँचा जा सकता ।

ठाकुर की एक कहानी है—वर्धमान के राजसभा में इस बात को लेकर तुमुल बहस छिड़ गयी कि—'शिव बड़े हैं या विष्णु ?' पद्मलोचन से इसकी मीमांसा करने को कहा गया । वे बोले—'मैं तो क्या

मेरे चौदह पीढ़ी के पूर्वजों में से किसी ने भी कभी न तो शिव को देखा है और न ही विष्णु को! तो फिर मैं कैसे कह सकता हूँ कि इनमें से कौन बड़ा है ?'

भगवान के स्वरूप को लेकर जो लोग तर्क करते हैं, उन्हें यह बात स्मरण रखनी चाहिये। पद्मलोचन का तात्पर्य था कि शास्त्र पर विचार करने से पता चलता है कि शैव शास्त्र में शिव को और वैष्णव शास्त्र में विष्णु को बड़ा कहा गया है। तन्त्र शास्त्र के मतानुसार शिव और विष्णु आद्याशक्ति के दो सन्तान हैं। हाय राम! हमने इतने दिनों तक जिसे सत्य माना था वह सब गड़बड़ हो गया।

श्री रामकृष्ण कहते हैं——जिसे जो भाव अच्छा लगता है. वह उसी भाव के सहारे उन्हें समझे। चरम लक्ष्य तक पहुँचने पर समझ में आ जाएगा कि अन्य सभी पथ भी वहीं पहुँच रहे हैं। रास्ते अलग-अलग होने पर भी परम लक्ष्य तो एक ईश्वर ही हैं। इससे उनके वैचित्र्य में बाधा नहीं आती। वे विविध रूपों में विद्यमान हैं। जिसका जैसा भाव है उसे वैसी उपलब्धि होती है। जैसे—एक हौज में विभिन्न रंग हैं। वहाँ जिसे जैसी रुचि उसी रंग में अपना कपड़ा रंगा लेगा। इसी प्रकार उस परम तत्व को भी जो जिस रूप में चाहता है वे उसी रूप में उसके समक्ष अभिव्यक्त होते हैं। ठाकुर का कहना यह है कि सब रूप उन्हीं के हैं। किसी के प्रति भी अवज्ञा का भाव नहीं है। सभी लोग अपनी रुचि के अनुसार चाहे विविध रूपों में अथवा अरूप में उसी एक ईश्वर की उपलब्धि कर रहे हैं।

श्री रामकृष्ण कह रहे हैं कि अरूप में भी उनका दर्शन होता है। यह एक बिल्कुल नई बात है। इसके पहले किसी भी आचार्य ने ऐसी बात नहीं कही। गीता में भगवान ने कहा है, 'मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः' (४।११) सभी लोग सभी प्रकार से मेरे पथ का ही अनुसरण करते हैं। अब इसी बात को लेकर बड़ा झगड़ा है कि 'मैं' कौन है। ये 'मैं' क्या केवल द्विभुज मुरलीधारी कृष्ण है अथवा गोलोकविहारी या बैकुण्ठ विहारी हैं ? क्या वे नारायण हैं ? नारायण हैं तो फिर कौन से नारायण हैं ? शंखचक्रगदापद्मधारी या गदापद्मशंखचक्रधारी अथवा शंखगदाचक्रपद्मधारी ? इसी तरह विविध प्रकार के Permutation and combination (क्रम और संयोजन) हैं।

ठाकुर का सर्वग्राही भाव

हममें से जो जिस भाव से उन्हें चाहे अरूप या बहुरूप उसके लिये वे वही हैं। औपनिषदिक सिद्धान्तों के साथ ठाकुर की इस दृष्टि में बड़ा अद्भुत साम्य है। यहाँ पर यह बात इसलिये चर्चा करने योग्य है कि अनेकों बार उनका आदर्श समझते समय हमारे मन में संशय उत्पन्न हो जाता है कि वे वस्तुतः क्या बताना चाह रहे हैं।

ठाकुर कहते हैं कि कहीं-कहीं भक्ति के हिम से समुद्र जम जाता है, और फिर ज्ञान सूर्य के उदय होने पर गल भी जाता है। वे और भी सुन्दर एक बात कहते हैं— कहीं-कहीं का बरफ तो कभी नहीं पिघलता। अतः ऐसी बात नहीं है कि उनके ये सब रूप अरूप तक पहुँचने के मार्ग में पड़ते हैं। और ऐसी भी बात नहीं कि यदि कोई भगवान के नित्य रूप को पकड़े रहे तो वह उन्हें पायेगा या आंशिक

रूप में उपलब्धि करेगा। ब्रह्म समुद्र है—वह अरूप हो चाहे सरूप। गंगा को स्पर्श करना हो तो उसे गंगोत्री से गंगासागर तक नहीं छूना पड़ता, कहीं भी छूने से हो जाता है।

अपनी बुद्धि की अल्पता के कारण हम सोचते हैं कि मैंने जिस प्रकार की उपलब्धि की है वैसी दूसरों ने नहीं की है। हमारी अज्ञता देखकर भगवान हँसते हैं और सोचते हैं कि मानों इन लोगों ने मुझे पूरी तौर से समझ लिया है। तथापि द्वैत, अद्वैत सभी कहते हैं कि कोई भी उन्हें समझ नहीं सका है।

सभी दूसरों को अपने भाव में खींचने का प्रयास करते हैं। इतिहास में एक श्रीरामकृष्ण ही अद्वितीय दृष्टान्त हैं जो सबके साथ समान रूप से ईश्वर का आस्वादन कर सके हैं। अन्य वर्गों में कहीं-कहीं उदारता दीख पड़ती है, पर वह उदारता सीमित है। परन्तु श्रीरामकृष्ण सर्व-ग्राही अनुभूति में सबको इस प्रकार आवृत्त कर लेते हैं कि कोई भी उससे बाहर नहीं रह जाता।

यह बात विशेष रूप से विचारणीय है। छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, ज्ञानी-भक्त सब एक ही ब्रह्म समुद्र से अमृत पीकर अमर हो रहे हैं। सम्पूर्ण ब्रह्म को कोई भी जान नहीं सका है। जैसे एक चींटी चीनी के पहाड़ का एक दाना खाकर पेट भर जाने पर, और एक दाना मुँह में दबाकर ले जाते हुए सोचती है कि अगली बार पूरा पहाड़ ही उठा ले जाऊँगी! वैसे ही हास्यास्पद हो जाते हैं वे लोग, जो सोचते हैं कि उन्होंने ब्रह्म समुद्र को पूर्णरूपेण आत्मसात् कर लिया है। शास्त्रों में कहा है कि तुम इस क्षुद्र बुद्धि के द्वारा कुछ भी नहीं समझ सकते। वे अनन्त हैं, सब प्रकार से अनन्त हैं।

ठाकुर बारम्बार कहते हैं, इस अनन्त की इति मत करो। शिवमहिम्नस्तोत्र में भगवान शंकर के क्षिति, जल आदि अष्ट मूर्तियों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जो बुद्धिमान हैं वे इस तरह वर्णन करें, पर हमें तो ज्ञात नहीं की तुम क्या नहीं हो सकते। ठाकुर भी इसी प्रकार अनुग्रह की दृष्टि से छोटा-बड़ा न मानकर, एकांगीपन को त्याग कर, भीतर के तत्व को समझने का प्रयास करने को कहते हैं और हम यदि यह न कर सकें तो दूसरों के भाव को तुच्छ मानने के बजाय यह कहना श्रेयस्कर है कि वह मुझे ज्ञात नहीं है। किसी भाव को अनुभव किये बिना उसे तुच्छ कहने का अधिकार किसी को नहीं है। दम्भवश उन भावों को गलत न बताकर 'मैं नहीं जानता' यह कहने में दोष नहीं है। श्रीरामकृष्ण ने जो कहा कि खोपड़े और बीजों को निकाल देने से वजन कम पड़ जायेगा इसका एक और भी तात्पर्य है—वे अनेक रूपों में हैं, एक रूप को भी छोड़ देने से कम पड़ जाएगा। अत: जिन रूपों को हम जानते हैं अथवा जिन्हें नहीं जानते, सबको लेना होगा। इसीलिए ठाकुर कहते हैं, "जब वे ऐसे हैं तब वे और भी न जाने क्या-क्या हैं।" उनकी सम्पूर्ण सम्भावनाओं को हम समाप्त नहीं कर सकते। शास्त्रों ने भी नहीं किया है। शास्त्रों के मतानुसार उनमें अनन्त सम्भावनाएँ हैं, अत: उन अनन्त सम्भावनाओं का आदर करते हुए विनय के साथ इस तत्व की चर्चा करनी चाहिए। हमारे इस 'सब जानता हूँ' भाव की श्रीरामकृष्ण ने बारम्बार भर्त्सना की है।

द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत

श्रीरामकृष्ण यहाँ पर द्वैत, अद्वैत और विशिष्टा-द्वैत—इन तीनों के बारे में बातें करते हुए, विशिष्टाद्वैत

प्रसंग का समापन करते हैं । नरेन्द्र से कहते हैं, 'विशिष्टाद्वैतवाद रामानुज का मत है अर्थात् जीव-जगत-विशिष्ट ब्रह्म।' इसी से विशिष्टाद्वैत शब्द बना है। चित् और अचित् विशिष्ट, दोनों का अद्वैत । अर्थात् जो चित् विशिष्ट हैं' वे ही अचित् विशिष्ट हैं—यही है रामानुज का मत । चित् माने चेतन अर्थात् विभिन्न जीव भगवान के एक अंश है, जड़ जगत उनका और एक अंश है। चित् एवं अचित् मानो भगवान के शरीर हैं। जैसे हम अपने शरीर के साथ अभिन्न हैं वैसे ही भगवान जीव-जगत से अभिन्न हो कर उसमें व्याप्त हैं । वे लोग कहते हैं कि जीव और जगत उनकी देह है और वे हैं देही । विशिष्टाद्वैतत्वादी एक परम तत्त्व में विश्वास रखते हुए भी उस तत्व में एक स्वगत भेद स्वीकार करते हैं । भगवान में अन्तर्निहित होते हुए भी वे सब तत्व एक दूसरे से भिन्न हैं । यही स्वगत भेद विशिष्टाद्वैतवादी मानते हैं ।

पाश्चात्य दर्शन में Pantheism है। Pan माने सर्वत्र Theos माने ईश्वर अर्थात् ईश्वर सर्वत्र हैं। इस प्रकार ईश्वर एवं सर्व दोनों की सत्ता मानी गई। लेकिन Pantheism में ईश्वर को जगदातीत रूप में नहीं सोच पाते । विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं—-इस विश्व में वे परिव्याप्त है पर इसी कारण वे सीमित नहीं हो जाते । एक सत्ता के रूप में जीव-जगत में परिव्याप्त होकर उसके परे भी वे हैं। विशेष रूप से यह ब्रह्मवाद का स्वरूप है। "सभूमिं विश्वतो वृत्त्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्" (श्वेताश्वतर उप० ३/१४) समस्त भूमि को आवृत्त कर उसके बाहर भी वे अवस्थित हैं, और फिर दशाङ्गुल परिमित होकर वे उपलब्ध हो रहे हैं । विशिष्टाद्वैतवादी

बहुधा भगवान के अनेक रूप मानते हैं तथा सभी रूपों को सत्य मानते हैं ।

जीव भगवान से एक प्रकार से भिन्न है और एक प्रकार से अभिन्न । जैसे मैं और मेरी देह; देह में मैं हूँ तथापि इसके किसी अंश विशेष में सीमित नहीं हूँ । विशिष्टाद्वैतवाद में इसी तरह के अनेक स्वगतभेद स्वीकार किए जाते हैं । द्वैतवादी कहते हैं कि जीव और जगत् एकदम भिन्न वस्तुएँ हैं । जीव, जगत और ईश्वर—ये नित्य भिन्न वस्तुएँ हैं ।

अद्वैतवादी ब्रह्म में किसी भी प्रकार का भेद स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं । अद्वैतवादियों का मूल सिद्धान्त है कि इस ब्रह्म, परमतत्व में किसी भी प्रकार का भेद नहीं है । अ-द्वैत माने जो द्वैत नहीं है । अद्वैतवादीगण विशिष्टाद्वैत, द्वैत आदि को द्वैत की ही श्रेणी में डालते हैं, क्योंकि ये सभी ब्रह्म के साथ ब्रह्मातिरिक्त तत्व को मानते हैं । ब्रह्म में स्वगत भेद स्वीकार करने पर तत्व की दृष्टि से भेद को स्वीकार करना हो जाता है । इस कारण ये लोग कहते हैं कि यहाँ द्वैत को भी मान लिया गया है । अत: अद्वैत वेदान्ती की दृष्टि में अद्वैत के सिद्धान्त को छोड़कर बाकी सभी सिद्धान्त द्वैतवादी हैं ।

द्वैतवादी उनके विरोध में कहते हैं कि इस परिदृश्यमान जगत को भला हम कैसे अस्वीकार कर सकते हैं ? अद्वैतवादी कहते हैं कि यदि ऐसा कोई नियम होता कि जो दृश्य हो वह सत्य ही होगा, तब तो रज्जु-सर्प के दृष्टान्त में सर्प भी सत्य होता । पर जब वह सत्य नहीं है, तब ऐसा कोई नियम नहीं कि जो दिखाई दे वह सत्य ही हो । यह हुई उनकी पहली युक्ति । और दूसरी तो और भी

जोरदार है—अद्वैतवादी कहते हैं कि दृष्ट वस्तु मिथ्या ही होगी क्योंकि दिखाई देनेवाली वस्तु की सत्ता देखने वाले पर निर्भर करती है । द्रष्टा न रहे तो दृश्य भी नहीं रहता । अतः दृश्य की सत्ता निरपेक्ष नहीं, सापेक्ष है और द्रष्टा की सत्ता निरपेक्ष है । जब मैं कुछ देखता हूँ, तभी कहता हूँ कि मैं द्रष्टा हूँ । तो क्या इससे द्रष्टा सापेक्ष हो जाता है ? नहीं, द्रष्टा के सामने दृश्य रहने पर वह देखता है, लेकिन दृश्य के लोप हो जाने पर द्रष्टा का भी लोप हो जाए, ऐसी बात नहीं । सूर्य जगत की विभिन्न वस्तुओं को प्रकाशित कर रहा है । लेकिन ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती कि वस्तुओं के न रहने से सूर्य का भी लोप हो जाएगा । सूर्य अपने प्रकाश के लिये किसी प्रकाशित होने वाली वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता; परन्तु प्रकाश्य वस्तु अपने प्रकाश के लिए सूर्य पर निर्भर है । अतः हम देखते हैं कि दृश्य, द्रष्टा की अपेक्षा रखता है, लेकिन द्रष्टा, दृश्य की अपेक्षा नहीं रखता । इसीलिए द्रष्टा के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु की निरपेक्ष सत्ता नहीं है । द्रष्टा की ही एकमात्र निरपेक्ष सत्ता है, अर्थात् द्वितीय कोई नहीं और वही एकमात्र वस्तु है । यही है अद्वैतवादी का मत । श्रीरामकृष्ण ने यहाँ श्रुति के समान थोड़ा-थोड़ा संकेत देते हुए विभिन्न मतवादों का संक्षेप में उल्लेख किया है ।

०

मानस-रोग (१५/१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम के प्रांगण में आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर कुल मिलाकर ४६ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलिखन उनके १५वें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों को लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्री राजेन्द्र तिवारी ने, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापन करते हैं।—स.)

रामचरितमानस की कथा के समापन में मानस रोगों का स्वरूप बताते हुए कागभुसुण्डिजी ने आयुर्वेद में दी गयी स्वस्थता और अस्वस्थता की परिभाषा को ही आधार बनाकर व्यक्ति और समाज के स्वस्थता के स्वरूप को प्रकट किया है। आयुर्वेद में त्रिधातु की स्वीकृति है और वे हैं—कफ, वात और पित्त। कागभुसुण्डिजी कहते हैं कि व्यक्ति के मन में भी ये त्रिधातु विद्यमान हैं। काम, क्रोध और लोभ की वृत्तियाँ ही मन का वात, पित्त और कफ हैं। जब व्यक्ति या समाज के जीवन में ये वृत्तियाँ संतुलित रहती हैं, तभी वह स्वस्थ रहता है। जब काम के द्वारा केवल सृजन का लक्ष्य सामने रखा जाता है, क्रोध के द्वारा बुराइयों को मिटाने का लक्ष्य रहता है और लोभ के द्वारा लोकसेवा के लिए धनसंग्रह का लक्ष्य होता है, तभी काम, क्रोध और लोभ समाज में सार्थक होते हैं। लेकिन प्रायः ऐसा रह नहीं पाता। कभी कोई एक वृत्ति प्रबल हो जाती है तो कभी कोई दूसरी वृत्ति। जिस युग में लोभ की प्रधानता हो जाती है, उसके समाज में अर्थ को बड़ा महत्व प्राप्त हो जाता है। इसी तरह यदि किसी देश-काल में

काम की वृत्ति प्रबल हो जाती है, तब वहाँ भोग ही जीवन का प्रधान लक्ष्य बन जाता है । और कभी किसी समाज में क्रोध की वृत्ति प्रबल हो जाने पर व्यक्ति और समाज में क्रोध की तीव्रतम प्रतिक्रिया हिंसा के रूप में परिलक्षित होने लगती है । इसमें एक क्रम है । जैसे किसी व्यक्ति को ज्वर हो जाता है, तो वैद्य नाड़ी से यह निर्णय करता है कि इसको किस प्रकार का ज्वर है । ज्वर का बहिरंग लक्षण मिलता-जुलता हो तो भी उसके मूल कारण अलग-अलग हो सकते हैं । वैद्य ही नाड़ी-परीक्षण के द्वारा यह निर्णय करता है कि ज्वर का मूल कारण किसकी विकृति है— वात की, पित्त की या कफ की। इसी प्रकार जब व्यक्ति और समाज अस्वस्थ हो जाते हैं, तब उसकी चिकित्सा करने को महापुरुष आते हैं। तो यह रोग और औषधि का संघर्ष सदा-सर्वदा चलता रहता है। अभी कुछ दिन पूर्व कानपुर में 'मानस-संगम' के तत्त्वावधान में रामकथा का आयोजन किया गया था । वहाँ अनेक विचारक और विद्वान् वक्ता एकत्र हुए थे । उन लोगों ने विविध रूपों में अपनी बातें रखीं । पर उनमें से कइयों का एक स्वर बड़ा ही मुखर था और वह यह कि समाज में जो इतनी अशान्ति, अव्यवस्था तथा भ्रष्टाचार व्याप्त है, तो ऐसी स्थिति में इन आयोजनों की क्या सार्थकता है ? क्या सचमुच इन आयोजनों से कोई प्रयोजन सिद्ध हो रहा है ? इस सन्दर्भ में तो हम यही कहेंगे कि चिकित्सा की अधिकता इसी बात की द्योतक है कि समाज में रोग अत्यधिक व्याप्त है । रोग की व्यापकता के कारण अगर अनेक चिकित्सकों की आवश्यकता हो जाय तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं । और ऐसा कभी नहीं हो सकता कि व्यक्ति या समाज

मानसिक रोगों से सदा के लिए पूर्णतया मुक्त हो जाय। किसी न किसी प्रकार की मानसिक समस्या समाज में सदा ही विद्यमान रहती है और उसकी चिकित्सा भी की जाती है, उसे मिटाने की चेष्टा की जाती है। कभी-कभी जब समाज में भोगवाद की प्रबलता होती है तो कोई महापुरुष आकर त्याग का मार्ग प्रशस्त करते हैं। लोगों के मन में काम के प्रति उपेक्षा उत्पन्न करने की चेष्टा करत हैं। तप को महत्त्व देते हैं। भोग की निन्दा करते हुए जीवन में काम की वृत्ति को सन्तुलित करने की चेष्टा की जाती है। इसी तरह कभी क्रोध की और कभी लोभ की वृत्ति भी असन्तुलित हो जाती है। कभी-कभी तो यह असन्तुलन मन के साथ मनुष्य के बुद्धि, अहंकार और चित्त तक को आक्रान्त कर देता है। गोस्वामीजी इसे अस्वस्थता का गम्भीर लक्षण मानते हैं। वे कहते हैं कि रोग अगर किसी एक अंग में हो या अन्तःकरण के किसी एक भाग में हो तो उसकी चिकित्सा करना सरल है, पर जब मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, चारों ही रोगग्रस्त हो जाएँ अथवा समाज समग्र रूप से रोगग्रस्त हो जाय तो उसकी चिकित्सा करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। यह बात तो हमें अपने जीवन में भी दिखायी देता है। कई बार जब हमारा मन अस्वस्थ हो जाता है, तो भी बुद्धि स्वस्थ रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि जब मन में जब कोई बुराई आती है तो बुद्धि तुरन्त कह देती है कि यह अशोभनीय है, त्याज्य है। मन पर बुद्धि का नियंत्रण बना रहता है। इसी प्रकार बहिरंग व्यवहार में मानसिक और भौतिक धरातल पर व्यस्त हो जाने पर भी हमारा चित्त एकान्त में समाहित एवं शान्त हो जाय, तो मन की बुराइयों को वहाँ

प्रश्रय नहीं मिलता। और व्यक्ति जब विनम्र हो जाता है तब मन की बुराइयों को अहं का समर्थन नहीं मिल पाता। इसी तरह कभी मन, कभी बुद्धि,कभी चित्त और कभी अहंकार अस्वस्थ हो जाते हैं, पर अन्तःकरण-चतुष्ट्य में से किसी एक के अस्वस्थ हो जाने पर शेष तीन स्वस्थ रहते हैं और समस्या गम्भीर नहीं हो पाती। समस्या तो तब जटिल हो जाती है जब अन्तःकरण समग्र रूप से अस्वस्थ हो जाता है। तब उस व्यक्ति की चिकित्सा अत्यन्त कठिन हो जाती है। यहाँ पर सन्निपात के संदर्भ में इसी स्थिति का वर्णन किया गया है।

आयुर्वेद में कहा गया है कि व्यक्ति के शरीर में वात, पित्त और कफ में से कोई एक कुपित हो जाय तो उसकी चिकित्सा अपेक्षाकृत सरल होती है लेकिन तीनों यदि एक साथ कुपित हो जायँ तो उसकी चिकित्सा करना सहज नहीं है। इसी प्रकार जब व्यक्ति के जीवन में काम, क्रोध और लोभ, तीनों वृत्तियाँ एक साथ विकृत हो जायँ, तब समस्या जटिल हो जाती है। रामचरितमानस में इसका सुन्दर दृष्टान्त है। परशुरामजी को हम अवतार मानते हैं। उनका अवतार क्यों हुआ ? उनके होते हुए समाज को श्रीराम की आवश्यकता क्यों हुई ? इसका उत्तर यह दिया गया कि परशुरामजी ने समाज की एक समस्या का समाधान दिया, पर उसकी प्रतिक्रिया अपने आप में एक समस्या बन गई। उन्होंने सहस्रार्जुन के एक हजार भुजाओं को काट दिया और क्षत्रियों को दण्ड दिया। सहस्रार्जुन को दमन करने से क्या अभिप्राय है ? सहस्रार्जुन लोभ का प्रतीक है। उसके चरित्र का वर्णन इस प्रकार मिलता है---सहस्रार्जुन एक योग्य राजा था। वह बड़ा

पुरुषार्थी था और बड़ी कुशलता से समाज का संचालन करता था। उसकी एक हजार भुजाएँ थीं और उनमें कर्म करने की अद्भुत क्षमता थी। ऐसी क्षमता यदि किसी व्यक्ति को प्राप्त हो जाय तो वह कल्याणकारी भी हो सकता है और अकल्याणकारी भी। और ये दोनों ही पक्ष हमें सहस्रार्जुन के जीवन में दिखाई देते हैं। हजार भुजाओं से अद्भुत कर्म करने की क्षमता का उपयोग यदि व्यक्ति दूसरों की सेवा, परोपकार और रक्षा करने के लिए करे तो वह कल्याणकारी हो सकता है। जैसा कि सहस्रार्जुन के जीवन में पहले था। लेकिन इस कार्यक्षमता के साथ अगर लोभ जुड़ जाय और वह बढ़कर अपार और असन्तुलित हो जाय तो वह अकल्याणकारी हो जाता है। और कर्म के साथ इसकी सम्भावना जुड़ी रहती है। कर्म करने की प्रेरणा जितनी ही तीव्र होगी, आकांक्षाएँ भी उतनी ही तीव्र होंगी। साथ में स्वार्थपरता और लोभ की वृत्ति भी रहती है। सहस्रार्जुन के साथ भी यही हुआ। और केवल सहस्रार्जुन ही क्यों, सम्पूर्ण क्षत्रिय जाति में यह वृत्ति आ गयी। इसके परिणामस्वरूप राजाओं में यह रोग फैल गया कि अधिक से अधिक देशों पर अधिकार करके मनमाने ढंग से प्रजा का शोषण करो और केवल अपने ही श्री, वैभव तथा भोग की चिन्ता करो।

यहाँ पर एक बड़ा सुन्दर संकेत मिलता है। एक बार रावण और सहस्रार्जुन के बीच भी टकराहट हो गई। लेकिन रावण सहस्रार्जुन को नहीं जीत पाया। जीत भी नहीं सकता था। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि सहस्रार्जुन जैसे लोभ का प्रतीक है, रावण मोह का प्रतीक है।

मोहदशमौलि तद्भ्रात अहंकार
पाकारिजित काम विश्रामहारी ।
विनय पत्रिका ५८

अभिप्राय यह है कि लोभ और मोह की वृत्तियों में टकराहट होने पर बड़ी विचित्र बात है कि मोह लोभ से परास्त हो गया । लोभ की एक विचित्र विशेषता है । यद्यपि ये तीनों (काम, क्रोध, लोभ) मन के रोग कहे जाते हैं । पर अगर अन्त:करण की दृष्टि से अलग अलग बाँटकर कहें तो काम मन:प्रधान है । लोभ से बुद्धि जुड़ी हुई है और क्रोध से अहंकार संयुक्त है । अगर ध्यान से देखा जाय तो यह स्पष्ट दिखायी देगा कि व्यक्ति के अन्त:करण में जब काम की वृत्ति आती है तो वह सब से पहले उसके मन को आक्रान्त करती है । मन जब भोग के लिए व्याकुल होने लगता है, तब इसी भोग पिपासा को मिटाने के लिए वह काम का आश्रय लेता है । और लोभ ? लोभ जब आता है तो उसे स्थान देती है बुद्धि । बुद्धि उसका समर्थन करती है । लोभ दिखायी तो देता है मन में, पर बुद्धि उसके समर्थन में बड़े जोर-शोर से तर्क देती है । व्यक्ति लोभ क्यों करता है ? बुद्धि कहती है, "बुढ़ापे में क्या करोगे ? परिवार की वृद्धि होगी, तब क्या होगा ?" भविष्य की चिन्ता करना तो एक सजग व्यक्ति का कर्तव्य है । बुद्धि व्यक्ति के सामने भविष्य की चिन्ता खड़ी कर देती है । व्यक्ति सोचता है कि इतना संग्रह कर लें कि जिससे भविष्य में निश्चिन्त होकर रह सकें । इस तरह लोभ की वृत्ति में बुद्धि की सक्रियता दिखायी देती है । क्रोध अहंप्रधान है । अहं जितना तीव्र होगा, क्रोध भी उतना ही तीव्र होगा । सामनेवाला व्यक्ति मेरी

बात क्यों नहीं सुनता, मेरी बात क्यों नहीं मानता, मेरी बात क्यों टालता रहता है ? इसी बात को लेकर क्रोध आ जाता है। चित्त इन तीनों के पीछे है। मन, बुद्धि और अहंकार में से अगर कोई एक अस्वस्थ हो और अन्य स्वस्थ, तो चिकित्सा करना सरल है। पर मन के साथ यदि बुद्धि और अहंकार भी अस्वस्थ हों और पीछे से चित्त भी संस्कार के रूप में उन्हें शक्ति देता रहे, तो उस व्यक्ति की चिकित्सा करना बड़ा कठिन हो जता है।

सहस्रार्जुन ने रावण को परास्त कर दिया, पर उसके बाद भी समस्या बनी हुई है। बुद्धि ने मोह को पराजित कर दिया, पर स्वयं दुर्गुणों से मुक्त नहीं हो सकी है। यद्यपि मोह की वृत्ति सहस्रार्जुन के जीवन में प्रबल नहीं है, पर लोभ की वृत्ति अत्यन्त प्रबल हो गयी है। ऐसा वर्णन आता है कि पहले वह धर्मपूर्वक पृथ्वी पर शासन करता था। वह बड़ा पराक्रमी था। एक बार वह वन में मृगया खेलने गया। वहाँ पर उसके मन में आया कि जब यहाँ तक आ ही गये हैं तो थोड़ी दूर और चलकर महात्मा जमदग्नि को प्रणाम भी कर लें। लगता है कि यह भी उसके जीवन की सात्विक वृत्ति थी। रावण की तरह वह सद्वृत्तियों से शून्य नहीं था। पर उसमें एक दोष प्रबल हो गया था। रावण और सहस्रार्जुन के जीवन की अगर तुलना करें तो दीख पड़ेगा कि जहाँ मुनियों के आश्रमों को विनष्ट करने में रावण को आनन्द अनुभव होता था, वहाँ सहस्रार्जुन के जीवन में मुनियों के प्रति आदर की वृत्ति थी, जिससे प्रेरित होकर वह जमदग्नि के आश्रम में जाता है। यहाँ पर उसकी बुद्धि स्वस्थ और अनुकूल

दिखाई देती है। जब वह जमदग्नि के आश्रम में पहुँच तो जमदग्नि ने उसका स्वागत और सम्मान किया, क्योंकि ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। मननशील त्यागी महात्मा और सत्ताधीश एक-दूसरे के सहायक हो सकते हैं। शासक मुनियों के समक्ष विनत होकर उनसे प्रेरणा ले सकते हैं और सत्ताधीश मुनियों को सुरक्षा प्रदान कर सकते हैं। दैत्यों और राक्षसों से मुनियों की रक्षा करना राजा का कर्तव्य है। यह एक स्वाभाविक क्रम है कि दोनों एक दूसरे को महत्व दें। और वही यहाँ पर हुआ। पर आगे चलकर सहस्रार्जुन के जीवन में इसकी प्रतिक्रिया बड़ी प्रतिकूल हुई। राजा का स्वागत करने जब जमदग्नि बढ़े तो यह सोचते हुए कि स्वागत आश्रम की परम्परा के अनुसार की जाय अथवा राजसिक परम्परा के अनुकूल? उन्हें यही लगा कि ये तो राजसिक व्यक्ति हैं, इनको आश्रम के कन्द-मूल-फल सम्भवतः सुस्वादु और प्रिय नहीं लगेंगे, इसलिए इनका सत्कार तो राजसिक वैभव से किया जाना चाहिए। और जब दिव्य वैभव के साथ जमदग्नि ने सहस्रार्जुन का स्वागत किया तो सहस्रार्जुन के मन में ईर्ष्या जाग उठी। वैभवशाली व्यक्ति को किसी दूसरे का वैभव देखकर प्रसन्नता नहीं होती। जब वह देखता है कि दूसरे के पास इतना वैभव है, तो उसे यह जानने की इच्छा होती है कि इतना वैभव उसके पास आया कहाँ से! सहस्रार्जुन ने जमदग्नि से पूछ भी लिया, "महाराज, आप तो वन में स्थित एक कुटिया में निवास करते हैं, आपके पास इतना वैभव कहाँ से आया?" जमदग्नि ने भोलेपन से कह दिया, "मेरे पास कामधेनु है। उस कामधेनु से मैं जो माँगता हूँ, वह मुझे देती है।

यह सारा वैभव उसी का दिया हुआ है। बस इतना सुनते ही पुरुषार्थी सहस्रार्जुन की वृत्ति बदल गयी। अब तक उसमें किसी वस्तु को पाने के लिए पुरुषार्थ की वृत्ति थी, पर अब कौन सी वृत्ति आ गई ? कामधेनु के प्रति लोभ की। कामधेनु अर्थात् बिना कुछ किये जो चाहें वह मिल जाय। पहले तो व्यक्ति यह सोचता है कि यह करेंगे तब यह मिलेगा। और कामधेनु हो तो करें कुछ नहीं, बैठे-बैठे जो चाहें वह मिल जाय। यह लोभ की पराकाष्ठा है। कुछ न करें और इच्छित वस्तु मिल जाय। पुरुषार्थी सहस्रार्जुन में अब बिना कुछ किए फल पाने की वृत्ति आ गई। जब तक कामना के साथ कर्म करने की वृत्ति रहती है तब तक लोभ में सन्तुलन बना रहता है, लेकिन जब बिना कुछ किए फल पाने की वृत्ति आती है तब क्या स्थिति होती है, सहस्रार्जुन का चरित्र इसी का चित्र प्रस्तुत करता है। सहस्रार्जुन ने जमदग्नि से कहा, "महाराज, जब आपको कुटिया में रहकर तपस्या का ही जीवन व्यतीत करना है, तो आपके पास इस कामधेनु की क्या उपयोगिता है ? इसकी उपयोगिता तो मेरे पास है। मुझे प्रजा का पालन, संरक्षण तथा संचालन करना है, और इसके लिए मुझे कामधेनु से क्षमता प्राप्त हो जाएगी।" जयदग्नि ने उन्हें बता दिया कि कामधेनु मुनि के ही पास रहेगी, राजा के पास नहीं। इसका तात्पर्य क्या है ? यह कि जो मुनि है, मननशील है, विचारशील है, उसके जीवन में संकल्प मात्र से आवश्यकता की पूर्ति हो जाय तो इसमें कोई दोष नहीं है। क्योंकि जो महात्मा है, उसका संकल्प सबके लिए कल्याणकारी ही होगा। उसके संकल्प की पूर्ति में सब

का कल्याण ही होगा। पर जिस व्यक्ति के मन में भोग-वासनाएँ हैं, उसे कर्मठ होना चाहिए और पुरुषार्थ के द्वारा ही अपनी कामना पूरी करने की चेष्टा करनी चाहिए। कामधेनु एक ओर जहाँ परदुखकातर महात्माओं के पास कल्याणकारी है, वहीं दूसरी ओर भोग-परायण व्यक्ति के पास उतनी ही विनाशकारी भी है। एक ओर सदुपयोग हो सकता है तो दूसरी ओर उसका दुरुपयोग भी सम्भव है। भोगपरायण व्यक्ति संकल्प-मात्र से भोग की वस्तुएँ पा लेने की स्थिति में कर्मशून्य होकर अपरिमित भोग में डूब जायगा। समस्त भोगों को अपने लिए समेटकर वह सदा दूसरों के लिए अमंगल और दु:ख-कष्ट की कामना करेगा। इसलिए मुनि ने स्पष्ट कह दिया कि कामधेनु राजा के पास नहीं मुनि के ही पास रहेगी। और तब राजा के उस असन्तुलित लोभ का परिणाम प्रकट हो गया। पहले तो उसे ईर्ष्या हुई, फिर लोभ और अब लोभ की पराकाष्ठा यह है कि बलपूर्वक छीन लेने की चेष्टा होने लगी। सामने वाला व्यक्ति अगर माँगने पर न दे और लोभ शान्त हो जाय, तब तो वह नियंत्रित लोभ है। लेकिन अगर उस इन्कार से क्रोध आ जाय और बलपूर्वक छीनने का प्रयास आरम्भ हो जाय, तो समझ लेना होगा कि व्यक्ति के मन, बुद्धि एवं अहंकार—तीनों ही लोभ से आक्रान्त हो गये हैं और साथ ही त्रिधातु भी कुपित हो गये हैं। पहले तो कामधेनु को पाने की कामना उत्पन्न हुई, फिर उस पर आधिपत्य की चेष्टा—यह लोभ है। फिर काम तथा लोभ की पूर्ति में बाधा आने पर क्रोध भी आ गया।

सङ्गात्सञ्जायते काम: कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।गीता २।६

कामना-पूर्ति में बाधा आने पर सहस्त्रबाहु को क्रोध आ गया। पर यह क्रोध तो परशुराम के जीवन में भी दिखाई देता है, जबकि उनके जीवन में न तो काम की स्वीकृति है, न लोभ की। उन्होंने कभी किसी के राज्य पर अधिकार नहीं किया, विवाह नहीं किया, वे बालब्रह्मचारी हैं। तब तो उनसे पूछा जा सकता है कि आपमें यह क्रोध कैसे आ गया? उन्होंने कहा, "लोक कल्याण के लिए मैंने क्रोध को स्वीकार किया है। मैंने समाज में एक यज्ञ किया और उस यज्ञ में क्रोध को अग्निकुण्ड बनाकर इन अहंकारी राजाओं की आहुति दी है। उनका सिर काटकर क्रोध के अग्निकुण्ड में डाल दिया—

मैं जस बिप्र सुनावहुँ तोही ।।
चाप स्रुवासर आहुति जानू ।
कोपु मोर अति घोर कृसानू ।।
समिधि सेन चतुरंग सुहाई ।
महा महीप भए पसु आई ।।
मैं एहिं परसु काटि बलि दीन्हें ।
समर जग्य जप कोटिन्ह कीन्हे ।।
मोर प्रभाउ बिदित नहिं तोरें ।१।२८२।१-५

—"मैं तुम्हें बताता हूँ कि मैं कैसा विप्र हूँ। धनुष को स्रुवा, बाण को आहुति और मेरे क्रोध को अत्यन्त भयंकर अग्नि जानो। चतुरंगिणी सेना सुन्दर समिधाएँ हैं। बड़े बड़े राजा उसमें आकर बलि के पशु हुए हैं, जिनको मैंने इसी फरसे से काटकर बलि दी है। ऐसे करोड़ों जययुक्त रणयज्ञ मैंने किये हैं। तुम्हें मेरा प्रभाव नहीं मालूम।"

यहाँ पर एक व्यंगात्मक प्रसंग आता है। परशुरामजी विश्वामित्र से कहने लगे—"जरा इन लोगों को मेरा इतिहास तो सुनाओ।" लक्ष्मणजी ने कहा—"महाराज, आप हमारे गुरुदेव को क्यों कष्ट दे रहे हैं।

अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी।
बार अनेक भाँति बहु बरनी।।
नहिं संतोषु त पुनि कछु कहहू।
जनि रिस रोकि दुसह दुख सहहू।। १।२७३।६

"आपने अपने ही मुँह से अपनी करनी अनेकों बार बहुत प्रकार से वर्णन की है। इतने पर भी सन्तोष न हुआ हो तो फिर कुछ और कह डालिए। क्रोध को रोककर असह्य दुःख मत सहिये। आपने स्वयं इतना बता दिया तो बचा क्या जिसे दूसरे बताएँगे? और अगर आपको सन्तोष न हुआ हो तो अपने विषय में कुछ और बताइए।"

परशुरामजी ने लोभ की समस्या को हल करने के लिए क्रोध को स्वीकार किया। क्रोध अहंप्रधान तो होता ही है, अब उनकी बुद्धि भी क्रोध का समर्थन करने लगी। वे तो भगवान राम से कहते हैं—

बोलसि निदरि विप्र के भोरें।। १।२८२।५

—"तू ब्राह्मण के धोखे में मेरा निरादर करके बोल रहा है।" यह अहं की प्रबलता है। भगवान राम ने उन्हें ब्राह्मण कहकर उनका सम्मान ही किया था, अपमान नहीं। लेकिन गोस्वामीजी लिखते हैं— परशुरामजी बिगड़कर भगवान राम से बोले, "तू ब्राह्मण कहकर मेरा अपमान कर रहा है—बोलसि निदरि बिप्र के भोरे।" इसका अभिप्राय क्या है? ब्राह्मण कहकर भगवान राम ने उनका सम्मान किया कि अपमान? ब्राह्मण जब सभी

वर्णों में श्रेष्ठ और पूज्य है, तो ब्राह्मण कहकर पुकारने से उन्हें सम्मान में कमी क्यों लग रही है ? इसका रहस्य क्या है ? यह कि अहंकार जितना प्रबल होगा, सम्मान की माँग भी उतनी ही तीव्र होगी। जब भगवान राम ने ब्राह्मण कहकर पुकारा तो परशुरामजी को लगा कि ब्राह्मण तो लाखों हैं, इसने मुझे उन्हीं की बराबरी में बिठा दिया। मेरा स्थान तो सबसे ऊँचा होना चाहिए न ! सभा-सम्मेलनों में महात्मा लोग एकत्र होते हैं तो भी आसनों को लेकर झगड़े हो जाते हैं। महात्माओं और वक्ताओं में भी परस्पर टकराहट हो जाती है कि मुझे आसन तो मिला लेकिन उससे नीचे मिला, या फिर दूसरे के बराबरी का क्यों नहीं मिला ? हमें तो ऊँचा आसन मिलना चाहिए था। परशुरामजी सम्मान में भी अपमान का अनुभव कर रहे हैं। यही अहं की अतिशयता है। अहं जितना ही प्रबल होता जायगा, व्यक्ति उतना ही असन्तुष्ट होता चला जायगा। जितना भी सम्मान दिया जाय वह यही कहेगा कि यह उनके प्रतिष्ठा के अनुरूप यथेष्ट नहीं है। भगवान श्री राघवेन्द्र झुक जाते हैं। वे कहते हैं, "महाराज, ब्राह्मण कहने में आपका अपमान होगा इसकी तो मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। मैं तो आपका अपमान स्वप्न में भी नहीं कर सकता। मेरी दृष्टि में तो जो सबसे बड़ा सम्मानजनक शब्द है, वही मैंने आपके लिए कहा। लेकिन परशुराम क्या सुनना चाहते थे ? वे चाहते थे कि श्री राम यह स्वीकार करें कि संसार के अप्रतिम योद्धा परशुराम हैं। भगवान राम ने कहा, "महाराज, जो शब्द आप सुनना चाहते हैं वह तो टकराहट और झगड़े की जड़ है।" यद्यपि उन्होंने

लक्ष्मणजी को आँख दिखाकर संकेत कर दिया था कि परशु-रामजी से इस तरह बोलना ठीक नहीं है, परन्तु परशुरामजी से भी बड़ी विनम्रता से कह दिया कि "महाराज, आप इस लड़के पर बहुत रुष्ट हो रहे हैं, लेकिन क्षमा करें, सारा दोष इस लड़के का ही नहीं है।" क्यों ? भगवान ने कहा--

जौ तुम्ह औतेहु मुनि की नाईं ।
पद रज सिर सिसु धरत गोसाईं ।। १।२८१।३

--महाराज, अगर आप फरसा लेकर न आए होते तो अवश्य ही यह आपके चरणों की धूल अपने सिर पर लगा लेता। यह फरसा ही झगड़े का कारण है। इसे जो आप कन्धे पर ढो रहे हैं, यह प्रदर्शन की वृत्ति है। दान अगर प्रदर्शन की वृत्ति से प्रेरित हो तो उसमें कोई सार्थकता नहीं रह जाती। वह तो अहंकार का पोषक हो गया है। भगवान राम ने कहा, "महाराज, यदि आप विप्र के रूप में आते तो क्या इस बालक का इतना साहस हो सकता था? इसे तो शस्त्र प्रेरित कर रहा है। जब आप क्षत्रिय के वेश में आए हैं तो क्षत्रिय वृत्ति से इसके अन्तःकरण में आप से टकराने की वृत्ति उठ गई। अगर आप ब्राह्मण के वेश में आते तो समन्वय हो जाता। तब यह विनम्र होकर आपके चरणों में प्रणाम करता और आप आशीर्वाद देते। प्रणाम और आशीर्वाद का सार्थक मिलन हो जाता।"

परशुरामजी की कृपा से समाज में उस समय काम और लोभ कुछ नियंत्रित अवश्य हुआ था, लेकिन अहकार या क्रोध की वृत्तियाँ उनके द्वारा नियंत्रित नहीं हो पायीं। वे सहस्रार्जुन को भले ही जीत गये हो, पर रावण को नहीं जीत पाये। यद्यपि तर्क तो यही कहता है कि रावण को परास्त करनेवाले सहस्रार्जुन को जब परशु-

रामजी परास्त कर देते हैं तब तो रावण पर भी उन्हें विजय मिलनी ही चाहिए थी। लेकिन नहीं मिली। क्यों? इसका उत्तर यह है कि रावण के जीवन में दुर्गुणों का जो अतिरेक है उसे मिटाने की शक्ति परशुराम में नहीं है। सहस्रार्जुन की तुलना में रावण के दुर्गुण अधिक शक्तिशाली हैं। सहस्रार्जुन चाहे जितना पराक्रमी क्यों न हो, पर वह सारे विश्व को अपने अधीन नहीं कर पाया था, जबकि रामचरितमानस में लिखा हुआ है कि—ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनुधारी। दसमुख बसबर्ती नर नारी ॥ १।१८१।१२ सहस्रार्जुन या बालि बहिरंग दृष्टि से भले ही रावण को हरा दें, पर सारा विश्व तो रावण के ही वश में था। इसका अभिप्राय यह है कि रावण में मोह की वृत्ति है—मोह का अर्थ आप जानते ही हैं—जानते हुए भी अनजान की तरह आचरण करना। यह एक ऐसी बुराई है जो सबसे गहरी और सबके मूल में है। अन्य बुराइयाँ तो दिखाई देती हैं और उन्हें नष्ट करना एक हद तक सम्भव भी है, पर वृक्ष को काट देने पर जमीन के नीचे छिपी हुई जड़ों से शक्ति पाकर नये अंकुर निकल आते हैं। और इस बुराई को समूल मिटाने की शक्ति परशुराम में भी नहीं थी। बल्कि एक ओर जहाँ उनके द्वारा काम और लोभ पर कुछ नियंत्रण प्राप्त हुआ वहीं उसके साथ एक नई समस्या उत्पन्न हो गयी और वह थी अहंकार एवं क्रोध की। इसीलिए भगवान राम के अवतार की आवश्यकता हुई। जब समाज में काम,क्रोध,लोभ,सभी असन्तुलित हो गये हों, ऊपर से अहंकार का डमरुवा हो गया हो और जितने भी मन के रोग हैं वे सब फैल गये हों, तब उस समय चिकित्सा करना बड़ा कठिन होता है। अगर रोग के सन्दर्भ में देखें तो इसे सन्निपात कहेंगे।

जितने मत उतने पथ

स्वामी आत्मानन्द

विश्व के धर्मेतिहास में हिन्दू धर्म का अपना विशिष्ट स्थान है। इसलिए नहीं कि वह विश्व के प्राचीनतम धर्मों में से है, बल्कि इसलिए कि धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में जो विशिष्ट देन हिन्दू धर्म की रही, वह अन्य किसी भी धर्म की नहीं। और वह विशिष्ट देन है--उसकी व्यापकता, उसका सर्वभावग्रहण।

हिन्दू धर्म सत्य का पुजारी है। हिन्दू धर्म से तात्पर्य उन सभी मतवादों से है, जो भारत की वसुन्धरा में जन्मे हैं—वह चाहे सनातनी हो या शाक्त, शैव हो या गाणपत्य, बौद्ध हो या जैन, सिख हो या आर्यसमाजी, वेदान्ती हो या पौराणिक। इन सभी मतवादों में एक तथ्य सर्वसामान्य है और वह यह कि वे सत्य की अनन्तता पर विश्वास करते हैं। वे ऐसा नहीं मानते कि सत्य किसी एक देश या जाति या सम्प्रदाय की बपौती है। वे ऐसा भी नहीं मानते कि सत्य की अनुभूति मात्र उन्हीं के विशिष्ट प्रांगण में आकर की जा सकती है, बल्कि उनका यह विश्वास है कि व्यक्ति संसार के किसी भी भूभाग का हो, किसी भी धर्म का अनुयायी हो, यदि वह सत्य को पाने का आग्रही है, तो अपने रास्ते से ही चलकर सत्य को पा लेगा।

विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में हम ऋषियों का ऐसा ही सार्वभौम दर्शन पाते हैं, जहाँ पर वे अपनी अनुभूति को व्यक्त करते हुए घोषित कर उठते हैं—'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति' —सत्य एक है, ज्ञानीजन उसी एक सत्य को भिन्न भिन्न नामों से पुकारते हैं। इस प्रकार हिन्दू धर्म प्रारम्भ से ही इस बात पर जोर देता रहा है कि सत्य अनन्त है और वह मनुष्य का इस सत्य की उप-

लब्धि के लिए आह्वान करता रहा है। वह जानता है कि मनुष्यों की रुचि विभिन्न होती है, उनकी क्षमता और योग्यता में भी पार्थक्य होता है। इसलिए हिन्दू धर्म ने धर्म के क्षेत्र में बड़ी व्यापकता बरती है। उसने यह भलीभाँति पहचाना है कि विभिन्नता में एकता ही प्रकृति की रचना है। अन्य धर्मों में कुछ निर्दिष्ट मतवाद विधिबद्ध कर दिये गये हैं और सारे समाज को उन्हें मानना अनिवार्य कर दिया जाता है। वे तो समाज के सामने केवल एक ही नाप की कमीज रख देते हैं, जो राम, श्याम, हरि सब के शरीर में जबरदस्ती ठीक होनी चाहिए। और यदि वह कमीज राम या श्याम के शरीर में ठीक नहीं बैठती तो उसे बिना कमीज के ही नंगे बदन रहना होगा। पर हिन्दुओं ने यह बहुत पहले ही जान लिया था कि निरपेक्ष ब्रह्मतत्त्व की उपलब्धि, धारणा या प्रकाश केवल सापेक्ष के सहारे ही हो सकता है एवं मूर्तियाँ, क्रास या चाँद तो केवल आध्यात्मिक उन्नति के सहायक रूप है। वे मानो बहुत सी खूँटियाँ हैं, जिनमें धार्मिक भावनाएँ अटकायी जाती हैं। ऐसी बात नहीं कि प्रत्येक के लिए इन साधनों की आवश्यकता हो, पर बहुतों के लिए तो ये आवश्यक हुआ ही करते हैं। और जिनको अपने लिए इन साधनों की सहायता की आवश्यकता नहीं रहती, उन्हें यह कहने का कोई अधिकार नहीं कि इन साधनों का आश्रय लेना अनुचित है। यही कारण है कि हिन्दू की दृष्टि में मनुष्य असत्य से सत्य की ओर नहीं जा रहा है, बल्कि वह तो सत्य से सत्य की ओर—निम्न श्रेणी के सत्य से उच्च श्रेणी के सत्य की ओर अग्रसर हो रहा है। हिन्दू के मतानुसार क्षुद्र अज्ञानी के धर्म से लेकर वेदान्त

के अद्वैतवाद तक जितने धर्म हैं, वे सभी अपने अपने जन्म तथा अवस्था भेद के अनुसार उसी परम सत्य की उपलब्धि के उपाय हैं और ये उपाय उन्नति की सीढ़ियाँ हैं।

हिन्दू धर्म उस माँ की तरह है, जो अपने बच्चों के लिए उनकी रुचि और पाचन शक्ति के अनुसार अलग-अलग प्रकार के भोजन की व्यवस्था करती है। जो बच्चा स्वस्थ है और जिसकी पाचनशक्ति तेज है, उसके लिए माँ चने की दाल और वेसन का लड्डू बनाती है और उसके जिस बच्चे का हाजमा ठीक नहीं, उसके लिए मूँग की दाल की खिचड़ी की व्यवस्था करती है। इसी प्रकार हिन्दू धर्म ने साधकों की क्षमता के अनुसार विभिन्न साधन पथों की व्यवस्था की है।

विश्व का इतिहास इस बात का साक्षी है कि हिन्दू धर्म ने कभी दूसरे धर्म के विरुद्ध हाथ में शस्त्र नहीं लिया। जहाँ विश्व के अन्य धर्म तलवार के बल पर दुनिया में फैले हैं, हिन्दू धर्म अपनी उदारता के कारण समादरपूर्वक अन्य धर्मावलम्बियों द्वारा उनके देशों में आहूत हुआ है। हिन्दू ने चर्च और मस्जिद बनवा दिये हैं, किसी चर्च या मस्जिद को कभी गिराया नहीं है, इतिहास हमें इस बात की भी गवाही देता है। इसका कारण यह है कि उसने सत्य को सभी देवालयों और पूजालयों में समान रूप से देखा है। उसकी दृष्टि में हिन्दुओं का ईश्वर, मुसलमानों का अल्लाह और ईसाइयों का गाड एक ही सत्य के विभिन्न नाम हैं। जैसे हिन्दू जिसे जल कहता है, उसे मुसलमान पानी, ईसाई वाटर, वैसे ही सत्य के भी ये अलग अलग नाम हैं और नामों को लेकर झगड़ने की आदत हिन्दू धर्म में नहीं है।

गीता में श्रीकृष्ण का वचन है—'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणारिव'—जैसे मनकों में सूत पिरोया होता है, वैसे ही सत्य भी विभिन्न धर्मरूपी मनकों में पिरोया हुआ है। इसी प्रकार आधुनिक युग में परमहंस श्रीरामकृष्ण हुए, जिन्होंने अपने जीवन की विराट् प्रयोगशाला में विभिन्न धर्मों के प्रयोग किये। लौकिक दृष्टि से वे अल्प ही शिक्षित थे, पर उन्होंने पूरी वैज्ञानिक मेधा पायी थी। जैसे एक वैज्ञानिक सत्य को जानने के लिए कई प्रकार के प्रयोग करता है, श्रीरामकृष्ण ने भी उसी प्रकार सत्य को जानने की जिज्ञासा ले धर्मों के प्रयोग किये। हिन्दू धर्म के सभी प्रमुख मतों की उन्होंने साधना की और सबके माध्यम से स्वयं चलकर सत्य तक पहुँचे। फिर उन्होंने क्रमशः ईसाई और इसलाम धर्मों की दीक्षा ली और उस साधना मार्ग पर से चलकर सत्य को प्रत्यक्ष किया। तभी तो स्वयं की अनुभूति के बल पर, उन्होंने उच्च कण्ठ से घोषणा की थी—"जतो मत ततो पथ", अर्थात् "जितने मत उतने पथ।" यह उदारता ही हिन्दू धर्म का प्राण है। श्रीरामकृष्ण अपनी आकर्षक ग्राम्य भाषा में कभी कहते —"सब सियारों का एक राग।" उनका मतलब होता कि तत्त्वज्ञ किसी भी भूभाग का या किसी भी धर्म का अनुयायी क्यों न हो, वह एक ही बात कहता है। जैसे वृत्त की परिधि से वृत्त के केन्द्र में जाने के लिए अनन्त त्रिज्याओं के रास्ते हैं, वैसे ही उस सत्यस्वरूप परमात्मा के पास जाने के अनन्त मार्ग हैं। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि तुम मार्ग को लेकर क्यों झगड़ते हो, तुम अभी समझ नहीं पा रहे हो कि तुम सबका लक्ष्य एक है। जब तुम झगडना छोडकर अपने अपने मार्ग में

चलना शुरू करोगे, तो देखोगे कि तुम सबका वह केन्द्र, वह सत्यस्वरूप परमात्मा एक ही है।

हिन्दू धर्म की इसी उदारता ने उसे आज तक जीवन्त बनाये रखा है। जहाँ विश्व के अन्य प्राचीन धर्म इतिहास के पन्नों में सिमटकर रह गये हैं, वहाँ हिन्दू धर्म आज तो और भी जाज्वल्यमान रूप में सामने आ रहा है। यह उदारता हिन्दू की शक्ति भी है और कमजोरी भी। यह कमजोरी तब बन जाती है, जब हिन्दू सबमें उस सत्य-स्वरूप आत्मा को देखता हुआ अत्याचारी और अन्यायी में भी आत्मा के दर्शन कर उसके प्रतिकार का उपाय नहीं करता। पर यह कमजोरी गलत शिक्षा का परिणाम है। हिन्दू धर्म जितना शीघ्र इस कमजोरी को दूर कर सके, उतना ही अच्छा होगा। इस गलत शिक्षा के कारण ही सबमें उसी एक सत्य को देखने की सीख देने वाले हिन्दू धर्म ने उच्च और निम्न वर्ण के भेदों को स्वीकार कर लिया और 'अछूत' शब्द का आविष्कार कर बैठा। पर यह कमजोरी हिन्दू धर्म के स्वरूप में नहीं है, जहाँ 'समत्व' का पाठ पढ़ाया गया है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु', 'आत्मौ-पम्येन सर्वत्र', 'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'समं पश्यन् हि सर्वत्र' इन सब सूक्तियों में सार्वभौम भावना ही व्यक्त की गयी है। यहाँ यह नहीं कहा कि केवल हिन्दुओं में आत्मा को देखो, बल्कि कहा कि सबमें, समूचे विश्व में आत्मा के दर्शन करो।

तो ऐसा है यह हिन्दू धर्म, जिसकी विशालता और उदारता की कोई सानी नहीं है। यहीं, और केवल यहीं पर मानव हृदय इतना विस्तीर्ण हुआ कि उसने केवल मनुष्य-जाति को ही नहीं, वरन् पशु-पक्षी और वनस्पति

तक को अपने में समेट लिया——सर्वोच्च देवताओं से लेकर बालू के कण तक, महानतम और लघुतम सभी को मनुष्य के विशाल और अनन्तवर्धित हृदय में स्थान मिला। और केवल यहीं पर मानवात्मा ने इस विश्व का अध्ययन एक अविच्छिन्न एकता के रूप में किया, जिसका हर स्पन्दन उसका अपना स्पन्दन है।

मैं अपनी वार्ता का समापन हिन्दुओं की उस प्राचीन प्रार्थना से करता हूँ, जो उसकी इस व्यापकता को प्रदर्शित करती है——

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदन्तिनो,
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं नो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

——जिसे शैव शिव के रूप में उपासते हैं और वेदान्ती ब्रह्म के रूप में, बौद्ध जिसकी उपासना बुद्ध के रूप में करते हैं और प्रमाण में कुशल नैयायिकगण कर्ता के रूप में, जैन पथ के अनुयायी जिसकी अर्हत् के रूप में उपासना करते हैं और मीमांसकगण कर्म के रूप में, वही त्रिलोकी के नाथ हरि हमें वांछित फल प्रदान करें।

जैसे आलू, बैंगन पक जाने पर नरम हो जाते हैं, वैसे ही सिद्ध पुरुष का स्वभाव भी नरम हो जाता है। उसका सब अभिमान चला जाता है।

——श्रीरामकृष्ण

श्री चैतन्य महाप्रभु (१४)

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक ने काफी शोध करके प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर श्री चैतन्य महाप्रभु की एक विस्तृत जीवनी लिखी। बंगला भाषा में यह पुस्तक अत्यन्त प्रामाणिक मानी जाती है और धीरे-धीरे काफी लोकप्रिय भी हुई है। उसी 'श्रीश्रीचैतन्यदेव' ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद यहाँ धारावाहिक रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।—स.)

पुरी से प्रस्थान करने के बाद से अब तक वे सागर के तटवर्ती पथ पर पुण्यभूमि भारत को अपने दक्षिण की ओर रखकर चलते हुए दक्षिण दिशा में चलते गये थे। भारत के आखिरी छोर कन्याकुमारी पहुँचकर अब वे पश्चिमी तट पकड़कर भारत को दाहिने रखकर ही क्रमशः उत्तर की ओर चले।

आमलीतला में चैतन्यदेव ने राम का दर्शन किया और तदुपरान्त वे मल्लारदेश पहुँचे, जहाँ भट्टमारी लोगों का निवास है। भट्टमारी महिलाओं का एक समाज है। उन लोगों ने धन का प्रलोभन देकर चैतन्यदेव के सेवक को फँसा कर रख लेने का प्रयास किया। उन्होंने बड़ी मुश्किल से उन लोगों के हाथ से ब्राह्मण का उद्धार किया और शीघ्रतापूर्वक उस अंचल को त्याग दिया। सभी अनुमान करते हैं कि भट्टमारी वामाचारियों का कोई सम्प्रदाय था। वहाँ से निकलकर, उसी दिन वे पयस्विनी नदी के तीर पर आये, वहाँ स्नान किया और आदिकेशव के मन्दिर में गये। केशव का दर्शन करके वे प्रेमाविष्ट हो गये और काफ़ी देर तक उन्हें प्रणाम, स्तुति, नृत्यगीत करते रहे। वहाँ के भक्त पण्डितगण ने अत्यन्त सम्मानपूर्वक उनका स्वागत किया। उन लोगों के साथ चर्चा करते

समय चैतन्यदेव को 'ब्रह्मसंहिता' नामक भक्तिशास्त्र क एक सिद्धान्तग्रन्थ का पता चला। उन्होंने उसकी एक प्रतिलिपि बनवाकर साथ ले लिया। कहते हैं कि वे 'ब्रह्मसंहिता' का केवल एक ही (पाँचवां) अध्याय लाये थे और वही बंगाल में देखने को मिलता है।

वहाँ से वे हर्षपूर्वक पद्मनाभ आये और दो दिन तक पद्मनाभ का दर्शन किया। तदुपरान्त वे श्री जनार्दन के मन्दिर में गये तथा वहाँ दो दिन कीर्तन व नर्तन किया। पयाचों में आकर शंकर नारायण का दर्शन करने के बाद वे शंकराचार्य के पीठस्थान शृंगेरी मठ पहुँचे। वहाँ से मत्स्यतीर्थ का दर्शन करके फिर उन्होंने तुंगभद्रा में स्नान किया।

सिहारी या शृंगेरी मठ संन्यासियों के लिए अत्यन्त प्रिय पुण्यस्थान है। वहाँ अतीव निर्जन पर्वतीय प्रदेश में, तुंगभद्रा के तट पर, ध्यान-धारणा के लिए एक अतीव अनुकूल स्थान में आचार्य शंकर ने अपनी आराध्य देवी सरस्वती का एक मन्दिर तथा मठ की स्थापना की थी। एक समय इसी मठ को केंद्र बनाकर सारे भारत में वेदान्त धर्म का प्रचार हुआ था। इसी कारण, न केवल संन्यासी-गण के लिए, अपितु समस्त सनातन-धर्मावलम्बियों की दृष्टि में ही यह स्थान परम पवित्र है। वहाँ की पीठाधिष्ठात्री देवी सरस्वती का दर्शन एवं श्री शंकराचार्य की पुण्यस्मृति से चैतन्य महाप्रभु के हृदय में आनन्द की जो तरंगें उठी होंगी और वहाँ के विदग्ध विद्वानों एवं ज्ञानी महात्माओं के साथ जो चर्चा हुई होगी, 'चैतन्यचरितामृत' ग्रन्थ। में उसका कोई भी विवरण प्राप्त नहीं होता। निःसन्देह यह खेद का विषय है। चैतन्यदेव अतीव कष्ट

उठाकर ध्यान-धारणा के अनुकूल तथा अपने सम्प्रदाय के मुख्य केन्द्र इस दूर देश में आये हैं और उनके अलौकिक जीवन पर मुग्ध होकर वहाँ के संन्यासीगण ने उनका स्वागत-सत्कार न किया होगा, ऐसी कल्पना भी असम्भव है ।

चैतन्यदेव ने श्रीरंगम में विशिष्टाद्वैती रामानुज सम्प्रदाय के प्रधान केन्द्र का दर्शन किया है, शृंगेरी में अपने अद्वैतवादी सम्प्रदाय के मुख्यालय का दर्शन किया और अब वे द्वैतवादी मध्व सम्प्रदाय के प्रमुख केन्द्र उड़पी की ओर चले । धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में, जीव और ईश्वर क सम्बन्ध विषयक ये तीन मतवाद ही प्रमुख हैं । बाकी मत इन्हीं के उपभेद मात्र हैं । उडुपी शृंगेरी से अधिक दूर नहीं है और केवल चार-पाँच दिन में ही वहाँ पहुँचा जा सकता था । शृंगेरी मठ* वर्तमान कर्नाटक राज्य के अन्तर्गत आता है। उड़पी दक्षिणी कन्नड़ अंचल में समुद्र तट की ओर स्थित है । "चैतन्यदेव वहाँ मध्वाचार्य के स्थान पर पहुँचे और श्रीकृष्ण का दर्शन कर प्रेमोन्मत्त हो उठे । परम मोहन नृत्यगोपाल श्रीकृष्ण मध्वाचार्य को स्वप्न देकर वहाँ आये । वे गोपीचन्दन† के नाव में वहाँ आये और मध्वाचार्य ने किसी प्रकार उन्हें प्राप्त कर लिया ।

* वर्तमान शृंगेरी से तीन-चार कोस दूर एक पर्वत पर ऋष्य-शृंग मुनि की तपस्या का स्थान है। उनके द्वारा प्रतिष्ठित शिव आज भी विराजमान हैं ।

† ऐसी किम्बदन्ती है कि एक बार एक वणिक द्वारका से नाव में गोपीचन्दन लेकर जा रहा था। वह नाव उडुपी के पास समुद्र में डूब गयी। इधर मध्वाचार्य ने स्वप्न में देखा कि उसी नाव में श्रीकृष्ण हैं। स्वप्न के अनुसार पता लगाकर मध्वाचार्य ने उस मूर्ति को प्राप्त किया एवं उसकी प्रतिष्ठा कर सेवापूजा की व्यवस्था की ।

उन्होंने लाकर विग्रह की स्थापना की । अब भी तत्त्व-वेत्तागण उनकी सेवा में लगे रहते हैं ।"

मध्वाचार्य भी शांकर सम्प्रदाय के ही संन्यासी थे, परन्तु उनका अद्वैतवाद में विश्वास न था । वे अपनी अनुभूति के अनुसार शास्त्र की द्वैतवादी व्याख्या एवं द्वैतमत का प्रचार करने लगे, जिसके फलस्वरूप उनका अपने सम्प्रदाय के साथ मतभेद हुआ । अतः उन्होंने स्वतन्त्र होकर माध्व सम्प्रदाय की स्थापना की और द्वैतमत का प्रतिपादन करते हुए प्रस्थानत्रय एवं अन्य शास्त्र ग्रन्थों के भाष्यादि की भी रचना की । द्वैतवादी होकर भी उनका संन्यासी सम्प्रदाय ही रहा और वे लोग भी मध्वाचार्य प्रणीत प्रणाली के अनुसार संन्यास ग्रहण करते हैं । आचार्य मध्व के अनुयायी अद्वैतवादी दसनामी संन्यासीगण के घोर विरोधी हैं । ये लोग अद्वैतवादियों को नास्तिक मानकर उनके प्रति घोर विद्वेष का भाव रखते हैं । "वहाँ के तत्त्ववादियों ने महाप्रभु का पहली बार दर्शन होने पर उन्हें मायावादी समझकर उनसे वार्तालाप नहीं किया । बाद में उनका प्रेमावेश देखकर वे लोग विस्मित हुए और उन्हें वैष्णव समझकर बड़ा सत्कार किया ।" माध्वगण के साथ चैतन्यदेव की भक्तिमार्ग तथा साध्य-साधन के बारे में चर्चा हुई थी । चैतन्यदेव द्वारा साध्य-साधन के विषय में जिज्ञासा करने पर "आचार्य ने कहा—'कृष्णभक्त का श्रेष्ठ साधन है—वर्णाश्रम धर्म श्रीकृष्ण को समर्पित कर देना और शास्त्र के अनुसार श्रेष्ठ साध्य है—पंचविध* मुक्ति पाकर वैकुण्ठ गमन करना' ।" माध्व

* (१) सार्ष्टि—भगवान के तुल्य ऐश्वर्य (२) सालोक्य—उन्हीं के समान लोक (३) सामीप्य—उनके समीप गमन (४)

गण का सिद्धान्त सुनकर चैतन्यदेव को विस्मय हुआ। उन्होंने अत्यन्त खेदपूर्वक कहा—"भक्तगण कर्म और मुक्ति दोनों का ही त्याग करते हैं और आप उन्हीं दोनों की साध्य एवं साधन के रूप में स्थापना करते हैं।" तदुपरान्त उन्होंने माध्वगण को भक्तिमार्ग के श्रेष्ठ साध्य-साधन निष्काम प्रेमभक्ति का स्वरूप तथा उसकी उपासना की बातें सुनाकर विस्मित कर दिया। संन्यासी के मुख से भक्तिमार्ग का अति उच्च तत्त्व सुनकर वे लोग लज्जित हुए। उनका दोष दिखा कर "महाप्रभु ने कहा कि कर्मी* और ज्ञानी† दोनों ही भक्तिहीन हैं और तुम्हारे सम्प्रदाय में भी वे दोनों चिह्न दीख पड़ते हैं। तो भी एक गुण तुम्हारे सम्प्रदाय में दिखाई देता है कि तुम लोग ईश्वर को सत्य विग्रह समझते हो।"

यहाँ पर पाठकगण एक तथ्य पर विशेष रूप से ध्यान दें और वह है माध्व-सम्प्रदाय के साथ चैतन्यदेव के मत का पार्थक्य। परवर्ती काल में उनके द्वारा प्रवर्तित भक्तिमार्ग व वैष्णव-सम्प्रदाय को किसी-किसी ने उक्त माध्व-सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही मानकर उसका परिचय दिया है। यह मत पूर्णतः भ्रान्त प्रतीत होता है। फिर किसी-किसी ने चैतन्यदेव के दीक्षागुरु श्रीपाद ईश्वरपुरी

सारुप्य—उनके समान रूप की प्राप्ति (५) सायुज्य—उनसे युक्त होना (ब्रह्मलोक प्राप्ति के समान ?)।

* कर्मी अर्थात् मीमांसक, जो स्वर्ग प्राप्ति के लिए यज्ञादि कर्म करते हैं।

† ज्ञानी—सांख्य निरीश्वरवादी तत्त्वविचारक सम्प्रदाय जो भगवत् उपासना के विरोधी हैं, जबकि शंकराचार्य एवं तत्प्रवर्तित संन्यासी-सम्प्रदाय अज्ञानाच्छन्न जीव के लिए भगवदुपासना को आवश्यक कर्तव्य मानते हैं।

के गुरु आचार्य श्रीमत् माधवेन्द्र पुरी के नाम के साथ माध्व नाम का मेल देखकर भ्रमपूर्वक उन्हें माध्व-सम्प्रदाय का माना है। परन्तु यह सत्य नहीं। 'चैतन्यचरितामृत' के आदिलीला के नवम परिच्छेद में लिखा है—"कृष्ण प्रेम से परिपूर्ण, जिनमें भक्ति-कल्पद्रुम का प्रथम अंकुरण हुआ, उन श्री माधवपुरी की जय हो। श्री ईश्वरपुरी में वह अंकुर पुष्ट हुआ और चैतन्य रूपी माली में उसके तने का विकास हुआ।"* इस उक्ति के द्वारा पाठकगण निश्चय ही समझ गये होंगे कि चैतन्यदेव किस सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते हैं। दसनामी संन्यासीगण अपने संन्यास-गुरु के सम्प्रदाय के अनुसार गिरि, पुरी, भारती आदि नामों से जाने जाते हैं। इस हिसाब से चैतन्यदेव भारती सम्प्रदाय के अन्तर्गत थे, तथापि उन्होंने जिस भक्तिमार्ग का प्रचार किया उसके प्रवर्तक उनके दीक्षागुरु के गुरु श्रीमत् माधवेन्द्र पुरी थे। अतः श्रीमत् माधवेन्द्र पुरी के नाम पर ही चैतन्यदेव के अनुगामी सम्प्रदाय का नाम पड़ा, ऐसा प्रतीत होता है।† किसी-किसी का ऐसा भी अनुमान है कि चैतन्यदेव के अनेक अनुयाइयों में जब उनके द्वारा प्रचारित त्याग-तपस्या के भाव का ह्रास होने लगा तो अद्वैतवादी संन्यासी-सम्प्रदाय से अपने को अलग

---

* "जय श्रीमाधवपुरी कृष्ण प्रेमपुर।
भक्तिकल्पतरुर तिहों प्रथम अंकुर॥
श्री ईश्वरपुरीरूपे अंकुर पुष्ट हैल।
आपन चैतन्यमाली स्कन्द उपजिल।"

† चैतन्यदेव के मतावलम्बीगण 'गौड़ीय माध्व' कहकर अपना परिचय देते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इसमें गौड़ीय विशेषण का उपयोग अपने को दक्षिणी माध्व से पूर्णतः पृथक बताने के लिए है।

रखने के लिए और यह सोचकर कि अन्य व्रजवासी वैष्णवों के बीच अपनी मान-प्रतिष्ठा एवं गौरववृद्धि के लिए किसी मूल वैष्णव सम्प्रदाय के साथ अपना सम्बन्ध दिखाना आवश्यक है, वे लोग द्वैतवादी मध्वाचार्य का अनुयायी कहकर अपना परिचय देने लगे । अस्तु, आइए हम लोग श्री चैतन्य के तीर्थपर्यटन की ओर लौट चलें ।

मलाबार से वे समुद्र का किनारा पकड़कर उत्तर पश्चिम की ओर बढ़ते हुए क्रमशः पाण्डुपुर पहुँचे । वर्तमान महाराष्ट्र प्रदेश के अन्तर्गत पड़ने वाला पण्ढरपुर एक सुप्रसिद्ध तीर्थस्थान है । वहाँ भगवान के विग्रह का विट्ठल नाम है । कहते हैं कि ईश्वर की असीम अनुकम्पा से एक पितृसेवापरायण भक्त उनके विशेष कृपाभाजन हुए थे । एक दिन जब वे पिता की सेवा में लगे थे, तभी प्रभु ने उन्हें दर्शन दिया । परन्तु पितृसेवा में निरत पुत्र ने तुरन्त ही उठकर भगवान का स्वागत नहीं किया, अपितु निकट ही एक ईंट पड़ा देखकर उसी को एक हाथ से आगे बढ़ा दिया और प्रेमपूर्वक कहा, 'बैठो, थोड़ी प्रतीक्षा करो, मैं आता हूँ ।' भगवान भक्त-हृदय के प्रेम और पितृसेवा पर प्रसन्न हुए और उसी ईंट पर त्रिभंग बंकिम मोहनरूप में खड़े होकर इन्तजार करने लगे । पितृसेवा हो जाने पर भक्त आकर प्रभु के चरणों में लोट गये और प्रेमाश्रु से उनके पादपद्मों का अभिषेक करते हुए अपने अपराध के लिये क्षमा माँगी । भगवान ने भक्त को सान्त्वना प्रदान की और उनके पितृसेवा की प्रशंसा करते हुए उन्हें वर देना चाहा । उनके मृदुमधुर हास्य से भक्त का हृदय आनन्दविभोर हो उठा । उन्होंने अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ हाथ जोड़कर भक्ति से गद्गद् वाणी में कहा, "मेरी इतनी

ही प्रार्थना है कि दास पर कृपा कर अपने इस भक्तानुग्रह-कारी भुवनमोहन रूप में यहीं चिरकाल तक विराजित रहो ।" भक्त की कामना पूर्ण हुई । ईंट* के ऊपर खड़े रहे, इस कारण प्रभु का नाम हुआ विट्ठल ।

भीमरथी अर्थात् भीमा नदी में स्नान कर चैतन्यदेव ने विट्ठलदेव का दर्शन किया । "वहाँ प्रेमाविष्ट होकर प्रभु ने नृत्य-कीर्तन किया और उनका भगवत्प्रेम देखकर सबका मन विस्मित हो गया । वहीं एक ब्राह्मण ने उन्हें निमन्त्रित किया और जब वे उनके घर भिक्षा को गये तो वहाँ एक बड़ा शुभ संवाद सुनने को मिला । उन्हें मालूम हुआ कि माधवपुरी के शिष्य श्रीरंग पुरी उसी ग्राम के एक विप्रगृह में विश्राम कर रहे हैं । सुनते ही प्रभु उनका दर्शन करने चल पड़े और दूर से ही उन्हें विप्र के घर बैठे देखा । प्रेमाविष्ट होकर उन्होंने पुरीजी को दण्डवत प्रणाम किया, इसके साथ ही उन्हें अश्रु पुलक कम्प होने लगा तथा सारे शरीर पर स्वेदबिन्दु उभर आये ।" अपने गुरुदेव के गुरुभ्राता श्रीमत रंगपुरी स्वामीजी के बारे में चैतन्यदेव जानते थे, इसीलिए संयोगवश उनका पता पाकर वे उनका दर्शन करने को चले आये । रंगपुरीजी भी इन तेजोदृप्त युवक संन्यासी को देखकर मुग्ध हुए और उनके भाव-प्रेम को देख समझ गये, 'निश्चय ही ये मेरे गुरुदेव श्रीमत् माधवेन्द्र पुरीजी से सम्बन्धित होंगे, अन्यथा ऐसा अपूर्व भक्तिप्रेम और कहाँ से आ सकता है ।' इसी कारण रंगपुरीजी ने कहा, "गोसाईं के सम्बन्ध से ही तुम मेरा चरण स्पर्श कर रहे हो । उनके अतिरिक्त अन्य कहीं भी प्रेमा का गन्ध विद्यमान नहीं है ।"

* ईंट को मराठी में वीट कहते हैं । (अनु.)

पुरीजी ने चैतन्यदेव का प्रेमालिंगन किया और आपस में परिचय हो जाने के बाद चैतन्यदेव ने उन्हीं के साथ परमानन्दपूर्वक पण्ढरपुर में कुछ दिन निवास किया। दोनों ही एक दूसरे को पाकर अतीव आनन्द के साथ भगवच्चर्चा एवं भजन-कीर्तन में कालयापन करने लगे। बातचीत के दौरान एक दिन रंगपुरीजी को विदित हो गया कि चैतन्यदेव का पूर्वाश्रम नवद्वीप में है। नवद्वीप का नाम सुन रंगपुरीजी हर्षित होकर बोले कि मैं माधवेन्द्र पुरीजी के साथ वहाँ गया था। वहाँ जगन्नाथ मिश्र नामक एक सद्ब्राह्मण का घर है, जहाँ हमने परम तृप्ति के साथ भिक्षा ग्रहण की थी और वहाँ हमें बड़ी स्वादिष्ट केले के फूल की सब्जी खाने को मिली थी। जगन्नाथ की सहधर्मिणी महान् पतिव्रता हैं और वात्सल्य तो उनमें ऐसा है मानो वे स्वयं जगदम्बा ही हों। भोजन बनाने में उनके समान निपुण तीनों लोकों में और कोई नहीं और वे पुत्रवत् स्नेह के सहित संन्यासीगण को भोजन कराती हैं। उनके एक कम आयु के पुत्र ने संन्यास लिया था जिसका नाम शंकरारण्य था। शंकरारण्य को इसी तीर्थ में सिद्धि प्राप्त हुई थी। श्रीरंगपुरी ने इस प्रसंग में इतना ही कहा। प्रभु बोले, "वे ही तो मेरे पूर्वाश्रम के भ्राता और जगन्नाथ मिश्र पिता थे।" चैतन्यदेव के पूर्वाश्रम का परिचय पाकर रंगपुरीजी के विस्मय की सीमा न रही। पुरानी स्मृतियाँ ताजी हो जाने के कारण उनमें आत्मीयता एवं प्रेमभाव काफी बढ़ गया। तीर्थ-यात्रा करते समय बड़े भाई का भी पता लगाऊँगा, चैतन्यदेव के हृदय की अनेक दिन की यह आकांक्षा आज पूर्ण हो गयी। वे समझ गये कि विश्वरूप अपने जीवन का

व्रत पूरा करके जा चुके हैं और अब इस जगत्में उनका दर्शन नहीं हो सकेगा। देखते-देखते ही कई दिवस बीत गये और रंगपुरी जी विदा लेकर द्वारका दर्शन को चल पड़े।

उनके प्रस्थान के बाद उन भक्त ब्राह्मण के विशेष आग्रह पर चैतन्यदेव ने वहाँ और भी चार दिन निवास किया। वे प्रतिदिन प्रातःकाल भीमा नदी में स्नानकर श्री विट्ठल का दर्शन करते और उन्हें प्रणाम, प्रदक्षिणा, स्तव-प्रार्थना और भजन-कीर्तन करके अन्तर में परम आनन्द पाते। कभी-कभी भावावेश के समय उनकी देह में सात्त्विक विकार प्रकट होते और उसे देख वहाँ उपस्थित लोगों के विस्मय की सीमा न रहती। पण्ढरपुर के बहुत से लोग उनके अनुगत भक्त हो गये। परवर्ती काल में तुकाराम,* नामदेव आदि जिन महात्माओं ने महाराष्ट्र में भक्तिभाव तथा नाम-माहात्म्य का प्रचार किया था, ऐसा अनुमान है कि उनमें से अनेक चैतन्यदेव द्वारा प्रचारित भक्तिभाव से ही अनुप्राणित थे। पण्ढरपुर अब भी महाराष्ट्र में भक्तिभाव के प्रेरणा का एक प्रमुख केन्द्र है। बहुत से लोग उस स्थान का बंगाल के नवद्वीप के साथ तुलना करते हैं। क्योंकि नवद्वीप के समान ही वहाँ भी भगवान के नामकीर्तन और भक्तिभाव की प्रधानता है और उसमें सामान्य लोगों का भी, यहाँ तक कि समाज के निम्न स्तर के लोगों का भी अधिकार है—ऐसा दीख पड़ता है। प्रति वर्ष श्रावण मास की पूर्णिमा को पण्ढरपुर में एक विराट् मेला लगता है, जिसमें पुरी के रथयात्रा उत्सव की भी अपेक्षा अधिक लोगों का

* सुनने में आता है कि तुकाराम की रचनाओं में कहीं चैतन्य-देव का उल्लेख आया है।

समागम होता है । उस समय वहाँ लाखों लोगों के कीर्तन, गीत और वाद्य की आवाज से कान फटने लगते हैं । अति निम्न श्रेणी के लोग भी उसमें सम्मिलित होकर आनन्द मनाते हैं और भगवान के नाम-संकीर्तन में उन्मत्त हो जाते हैं । वहाँ का दृश्य देखकर हमें चैतन्यदेव की नवद्वीप लीला तथा नाम-संकीर्तन की याद हो आती है । नवभाव का बीज रोपित कर चैतन्यदेव ने पण्ढरपुर से प्रस्थान किया ।

"तदुपरान्त महाप्रभु कृष्णवेणी नदी के तट पर आये और वहाँ के विविध तीर्थ, मन्दिर तथा देवतागण का दर्शन किया । वहाँ का वैष्णव मतावलम्बी ब्राह्मण समाज उस समय 'श्रीकृष्णकर्णामृत' ग्रन्थ का पाठ कर रहा था, जिसे सुनकर उन्हें अतीव आनन्द का बोध हुआ । प्रभु ने अनुरोध करके उसकी एक प्रतिलिपि बनवा ली ।" श्रीमत् लीलाशुक (बिल्वमंगल) द्वारा रचित 'श्रीकृष्ण-कर्णामृत' ग्रन्थ को पाकर चैतन्यदेव के प्रसन्नता की सीमा न रही । इस पुस्तक में श्रीकृष्ण लीला का सौन्दर्य एवं माधुर्य तथा विशुद्ध कृष्णप्रेम जैसा वर्णित हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है । 'ब्रह्मसंहिता' के समान ही इसे भी चैतन्यदेव ने अपने साथ लिया और वहाँ से पश्चिम की ओर रवाना हुए । "फिर ताप्ती में स्नानकर वे माहिष्मती पुरी में आये । वहाँ नर्मदा के तट पर उन्होंने अनेक तीर्थों का दर्शन किया । धनुस्तीर्थ देखने के बाद उन्होंने निर्विन्ध्या में स्नान किया और दण्डकारण्य में स्थित ऋष्यमूक पर्वत पर आये ।"

इन स्थानों का नाम तथा वर्णन 'चैतन्यचरितामृत' कार ने जैसा लिपिबद्ध किया है, वह क्रमानुसार नहीं हो सका है, ऐसा उन्होंने स्वयं भी स्वीकार किया है । इसमें

दक्षिण भारत का विवरण जितने विस्तारपूर्वक मिलता है, महाराष्ट्र अंचल का विवरण तदपेक्षा काफी संक्षिप्त है। सर्वाधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि चैतन्यदेव के द्वारका, प्रभास आदि तीर्थों के दर्शन का उल्लेख 'चैतन्य-चरितामृत' में नहीं है। ऐसा नहीं लगता कि इतने दूर जाकर भी उन्होंने इन महातीर्थों का दर्शन नहीं किया होगा। निश्चय ही उन दिनों द्वारका-दर्शन में कोई बड़ी बाधा न थी, अन्यथा उनके पण्ढरपुर के संगी श्रीरंग पुरीजी कैसे द्वारका की यात्रा को जाते ? एक और भी लक्षणीय बात यह है कि उनके पुरी लौटने का विवरण भी 'चैतन्यचरितामृत' में भलीभाँति वर्णित नहीं हुआ है। इससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि उनके भ्रमण के अन्तिम भाग का वृत्तान्त कृष्णदास कविराज महाशय पूरी तौर से संग्रह नहीं कर सके थे। दण्डकारण्य दर्शन के पश्चात् ही 'चरितामृत'कार ने लिखा है, "प्रभु ने पम्पा सरोवर आकर उसमें स्नान किया और पंचवटी में जाकर विश्राम किया। नासिक त्र्यम्बक देखकर वे ब्रह्मगिरि गये और फिर गोदावरी के जन्मस्थान कुशावर्त पहुँचे। वहाँ सप्त-गोदावरी तथा अन्य अनेक तीर्थों को देखने के बाद प्रभु पुनः विद्यानगर को लौट आये। रामानन्द राय को जब उनके आगमन की सूचना मिली, तो आनन्दपूर्वक जाकर उन्होंने प्रभु से भेंट की।" *

गोविन्द दास के 'कड़चा' नामक (बंगला) ग्रन्थ में चैतन्यदेव के दक्षिण-पश्चिम भ्रमण का सविस्तार वर्णन

---

* श्रीमद्भागवत में प्राप्त बलराम के तीर्थयात्रा विवरण के साथ चैतन्यदेव के दक्षिण-भ्रमण का काफी सादृश्य है। पौराणिक काल के प्राचीन तीर्थ परवर्ती काल में भी यथावत् विद्यमान थे—निःसन्देह यह बड़े विस्मय की बात है।

प्राप्त होता है। वहाँ उनके द्वारकादि दर्शन के पश्चात् वापस लौटने का काफी विवरण लिपिबद्ध है। परन्तु गोविन्ददास के 'कड़चा' को अनेक लोग प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं मानते। इसका प्रमुख कारण यह है कि काफी शोध के बावजूद अब तक उसकी कोई प्राचीन (हस्तलिखित) मूल प्रति नहीं मिल सकी है। इस ग्रन्थ को हमने बड़ी अच्छी तरह पढ़कर देखा है। इसमें वर्णन आदि बड़ा सुन्दर बन पड़ा है तथापि इसकी प्रामाणिकता के विषय में सन्देह करने की यथेष्ट गुंजाइस है।

हमें लगता है कि गोविन्ददास का ग्रन्थ बहुत प्राचीन नहीं है तथापि प्राचीन लोगों के बीच प्रचलित चैतन्यदेव के परिव्राजक जीवन की घटनाओं का विवरण संकलित करके ही किसी परवर्ती काल के लेखक ने इसकी रचना की है। अब तक हमने जो कुछ लिखा वह प्रायः पूरा ही 'चैतन्यचरितामृत' ग्रन्थ से गृहीत हुआ है। अब हम गोविन्ददास के 'कड़चा' से उनके द्वारका-भ्रमण तथा प्रत्यावर्तन की कहानी का वर्णन करते हैं और इसके सत्या-सत्य निर्णय का भार पाठकगण पर ही छोड़ देते हैं।

महाराष्ट्र से पश्चिम की ओर चलकर चैतन्यदेव सौराष्ट्र पहुँचे और वहाँ के समस्त तीर्थस्थानों का परि-दर्शन करने लगे। सुप्रसिद्ध सोमनाथ का मन्दिर, जिसका अतुल ऐश्वर्य मुस्लिम आक्रान्ताओं ने लूट लिया था, सौराष्ट्र का एक प्रमुख दर्शनीय स्थान था। प्रभास को जाने वाले आज के तीर्थयात्री समुद्र के तट पर उस विशाल मन्दिर के ध्वंशावशेष को देखकर शोकपूर्ण हृदय के साथ

लौट आते हैं ।* चैतन्यदेव के प्रभास-दर्शन के पूर्व ही वह मन्दिर लुण्ठित हो चुका था । वे भी सोमनाथ का ध्वंसावशेष देखकर अतीव दुखी हुए थे । चैतन्यदेव ने समुद्रतट पर चलते हुए एक-एक कर गिरनार, प्रभास, सुदामापुरी (पोरबन्दर) और द्वारका का दर्शन किया । गिरनार का पथ बड़ा कठिन है । वहाँ अति दुर्गम और लम्बी चढ़ाई करने के बाद काफी ऊँचे पर्वत पर स्थित माँ काली के मन्दिर, दत्तात्रेय की पादुका और गोरक्षनाथ की साधना-स्थली का दर्शन प्राप्त होता है। इस दुर्गम पथ में एक रुग्ण साधु को असहाय अवस्था में पड़ा देखकर चैतन्यदेव ने अपने सेवक के सहयोग से उनके सेवा-सुश्रूषा का व्यवस्था की तथा उन्हें अपनी जानी हुई एक दवा खाने को दी । उनकी देखभाल के फलस्वरूप साधु शीघ्र ही नीरोग हो गये और कुछ दूर तक उन्होंने चैतन्यदेव के साथ तीर्थभ्रमण भी किया ।

द्वारका पहुँचकर उनके आनन्द की सीमा न रही । उन्होंने वहाँ गोमती में स्नान कर भगवान का दर्शन किया और भजन-कीर्तन में उन्मत्त होकर वहाँ कई दिन निवास किया । उनके अपूर्व रूप-लावण्य तथा अलौकिक भाव-भक्ति पर बहुत से लोग मुग्ध होकर उनके भक्त हो गये । वे सबके साथ मिल-जुलकर उनके भीतर धर्मभाव तथा भगवद्भक्ति का प्रचार करने लगे । एक दिन द्वारकानाथ मन्दिर में आनन्दोत्सव के उपलक्ष्य में अनेक लोग समवेत होकर प्रसाद ग्रहण कर रहे थे । इसे देखकर बहुत से

* सम्प्रति स्वाधीनता के बाद भारत में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो जाने के बाद इस मन्दिर का यथायोग्य पुनर्निर्माण हुआ है ।

गरीब, भिखारी, अन्धे, काने तथा लंगड़े लोग भी प्रसाद पाने की उम्मीद में आकर एक किनारे खड़े हो गये। दीन-दुखियों को देख चैतन्यदेव का हृदय करुणा से अभिभूत हो उठा। शीघ्रतापूर्वक जाकर उन्होंने उन लोगों को परम-प्रीतिपूर्वक बैठाया और स्वयं ही प्रसाद की अच्छी-अच्छी चीजें लाकर उन्हें परम-परितोषपूर्वक खिलाने लगे।

द्वारका दर्शन के पश्चात् उस अंचल के अन्यान्य तीर्थों का भी दर्शन करके वे लौटने का रास्ता पकड़कर पूर्व की ओर चलने लगे। गुजरात से निकलकर वे पुनः महाराष्ट्र के तीर्थों का दर्शन करते हुए खाण्डोबा* के मन्दिर में आ पहुँचे। खाण्डोबा का दर्शन करके उनके मन में अतीव आनन्द हुआ और वे प्रेमविभोर होकर स्तव, स्तुति, नृत्य, गीत एवं कीर्तन करने लगे। वे जहाँ कहीं जाते, लोग उनकी ओर आकृष्ट हो जाते थे। यह स्थान भी इसका अपवाद न था। खाण्डोबा के मन्दिर में अनेक देवदासियाँ निवास करती थीं, जिनकी हालत बड़ी दयनीय थी। यद्यपि उन्हें 'देवदासी' कहा जाता था, पर उनका कार्य कुछ और ही था। चारों ओर से अनेक लोग चैतन्यदेव का दर्शन करने आ रहे हैं, यह देख देवदासियाँ भी उनके दर्शन की आकांक्षा से अग्रसर हुईं, परन्तु उनके समीप जाने का साहस न जुटा सकीं। चैतन्यदेव उन लोगों का परिचय पाकर तथा उनका विमर्ष भाव देखकर बड़े दुखी हुए। उन्होंने उन लोगों के प्रति स्नेह और अनुकम्पा दिखाते हुए भगवान के शरणापन्न होकर सद्भावपूर्ण जीवन बिताने का तथा उनका नाम लेने का

---

* प्राचीन खाण्डव वन जो वर्तमान भुसावल के निकट स्थित था।

उपदेश दिया । इस प्रकार उनकी मति, गति तथा जीवन धारा परिवर्तित हो गयी ।

वहाँ से दक्षिण-पूर्व की ओर आगे बढ़कर उन्होंने (किष्किन्धा में स्थित) पम्पा सरोवर में स्नान कर उस अंचल के तीर्थों का दर्शन किया । फिर वर्तमान आन्ध्र और मध्यप्रदेश के भीतर से होकर यात्रा एवं स्थानीय तीर्थों का दर्शन करते हुए, विन्ध्य पर्वत के निकट से होकर पूर्व की ओर आकर वे पुनः विद्यानगर पहुँचकर रामानन्द राय से मिले । विन्ध्य गिरि का निकटवर्ती प्रदेश जंगला-कीर्ण है और वहाँ का पथ भी बड़ा दुर्गम है। बीच-बीच में भयानक वन हैं और जनसंख्या नहीं के समान है। फिर कहीं-कहीं सभ्यतारहित वन्य जातियों का भी निवास है। ऐसे ही एक स्थान पर वे एक असभ्य भील दस्यु के हाथ पड़ गये । परन्तु वह भयंकर डकैत उनके अपूर्व प्रेमभाव पर मोहित हो गया । उन्होंने उस दस्यु को अपने भाव में अनुप्राणित कर, उसके जीवन की गति ही फिरा दी । उनके प्रभाव से वह भील भगवद्भक्त हो गया । उन लोगों की सामाजिक जीवन प्रणाली के उन्नयन हेतु चैतन्यदेव ने उन भील लोगों में भगवान के नाम-माहात्म्य का प्रचार किया ।

जंगल के दुर्गम पथ में लोगों की बस्ती न होने के कारण चैतन्यदेव को भिक्षा की बड़ी असुविधा हुई । एक बार तो दो दिन तक उपवास करने के पश्चात् तीसरे दिन सेवक थोड़ा सा आटा जुटा लाया । उस आटे की रोटियाँ बना कर जब वे भोजन करने को बैठे ही थे कि एक दुखिया भिखारिन ने आकर हाथ पसार दिया । चैतन्यदेव ने अतीव आनन्द के सहित अपना खाना उसे दे दिया और

स्वयं उपासे रहे । जाते समय और भी एक जगह गाँव के लोगों ने उन्हें अन्न-वस्त्र आदि बहुत सी चीजें अर्पित कीं । वहाँ सामने के वृक्ष के नीचे एक वृद्धा एवं दुखी भिखारिन को देख चैतन्यदेव ने वह सब कुछ उसी को सौंपने का आदेश दिया । उनकी दया देखकर सभी लोग चकित रह गये और कोई-कोई कहने लगा कि ये लोग उस वृद्धा के लिये ही भिक्षा माँग रहे थे । हमने गोविन्द दास के कड़चा से अति अल्प अंश ही ग्रहण किया है । किसी को अधिक जानने की इच्छा हो तो उक्त पुस्तक देखना चाहिए ।

विद्यानगर लौटकर चैतन्यदेव पुनः रामानन्द राय के साथ मिलित हुए और पहले के समान ही भगवत्-प्रसंग चलने लगा । दक्षिण भारत भ्रमण करने में उन्हें लगभग दो वर्ष लगे थे । इस बीच राय राजकर्म से छुट्टी लेकर पुरी में निवास करने के लिए महाराज प्रतापरुद्र की अनुमति पा चुके थे । राय ने अतीव हर्षपूर्वक इस सुसंवाद से चैतन्यदेव को अवगत कराया, सुनकर वे भी बड़े आनन्दित हुए । कुछ दिन बीत जाने पर उन्होंने राय को भी अपने साथ लेकर पुरी जाने की इच्छा व्यक्त की । परन्तु रामानन्द ने हाथ जोड़कर निवेदन किया, "स्वामी ! आप त्यागी संन्यासी हैं; आपको आडम्बर, तड़क-भड़क, लोगों का हो-हल्ला, कोलाहल आदि अच्छा नहीं लगेगा । अतः आप आगे आगे नीलाचल को चलें, क्योंकि मेरे साथ हाथी, घोड़े, सैनिकों आदि का शोरगुल रहेगा । दस दिन में मैं यहाँ का सब निपटाकर आपके पीछे पीछे आऊँगा ।" महाप्रभु ने उन्हें वैसी अनुमति दी और आनन्दपूर्वक नीलाचल की ओर प्रस्थान किया ।

अब चैतन्यदेव पुराने पथ पर ही चलने हुए, परिचित स्थानों को देखते, परिचित लोगों एवं भक्तों से मेल-

मुलाकात करते पुनः आलालनाथ आ पहुँचे। वहाँ से खबर देने के लिए उन्होंने अपने संगी सेवक को पुरी भेजा। उनके आगमन का संवाद पाकर भक्तगण के हृदय में अतीव आनन्द का संचार हुआ। प्रभुपाद नित्यानन्द, सार्वभौम, मुकुन्द, जगदानन्द, दामोदर आदि भक्तगण वहाँ शीघ्र ही आ पहुँचे। श्री जगन्नाथ के सेवक प्रसादी माला, चन्दन और महाप्रसाद इत्यादि ले आये। बहुत दिनों के बाद इस मिलन के फलस्वरूप सबके हृदय में प्रेम का ज्वार उठने लगा और वे प्रेमाश्रु बहाते हुए परस्पर आलिंगन करने लगे। प्रसादी माला, चन्दन और महाप्रसाद अत्यन्त भक्तिपूर्वक धारण करने के बाद चैतन्यदेव बारम्बार श्री जगन्नाथ के निमित्त प्रणाम करने लगे। उन्हीं की कृपा से यह सुदीर्घ और कठिन यात्रा सानन्द हो सकी थी। आपस में कुशलता का समाचार जान लेने और प्रेमप्रीति के आदान-प्रदान के पश्चात्, सभी एक साथ मिल भगवान का नाम व गुणगान करते हुए पुरी की ओर चल पड़े। पुरी पहुँचते ही चैतन्यदेव ने मन्दिर में जाकर जगन्नाथजी का दर्शन किया और धरती पर बारम्बार लौटकर प्रणाम किया। दो वर्ष बाद पुनः अपने प्राणप्रिय आराध्यदेव का दर्शन पाकर उनका अन्तर प्रेम से परिपूर्ण हो उठा।

इस सुदीर्घ भ्रमण के फलस्वरूप चैतन्यदेव को अपने काल के देश एवं समाज की दुरवस्था और धर्म एवं सम्प्रदायों की हालत के बारे में विशेष जानकारी हासिल हुई। आचार्यों की जन्मभूमि तथा उनके सम्प्रदायों के प्रमुख केन्द्र देखकर वे समझ गये कि उनमें से अनेक अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का मार्ग छोड़कर साम्प्रदायिक स्वार्थों

के पीछे दौड़ रहे हैं। श्रुति-स्मृति द्वारा अननुमोदित आचार-अनुष्ठानों से समाज कलुषित हो गया है। ज्ञान-मार्गी निर्गुण ब्रह्मवाद की दुहाई देकर घोर नास्तिक हो गये हैं तो भक्तिमार्गी भी सगुण ब्रह्मोपासना के नाम पर निरे मूर्तिपूजक हो गये हैं। भक्तिप्रधान दक्षिण का भ्रमण करके उन्होंने देखा कि भारत के अन्य प्रदेशों के समान ही वहाँ के लोग भी अपने मानव जन्म की चरम सार्थकता के बारे में न सोचकर, अपने स्वार्थसाधन तथा सम्प्रदाय की पुष्टि में ही व्यस्त हैं। इसके फलस्वरूप असंख्य मन्दिर और विग्रहों की स्थापना हुई है, भोग-राग और सेवापूजा का आडम्बर बढ़ा है, परन्तु समस्त आचार-अनुष्ठान प्राणहीन हो चुके है। सार वस्तु की तो कोई खोज-खबर नहीं, केवल छिलके को लेकर ही खींचातानी चल रही है; और इसके साथ ही उनका अपना तथा सम्प्रदाय का घोर पतन हो चुका है। धर्म की इस ग्लानि को दूर करने के लिये ही चैतन्यदेव ने देश में सर्वत्र त्याग-वैराग्यपूर्ण तत्त्वज्ञानमूलक सहज सरल अनाडम्बर उपासना-प्रणाली एवं भगवान के नाम-माहात्म्य का प्रचार किया। उनके द्वारा संस्थापित उपासना-मन्दिर, त्याग व तपस्या के उपादान से गठित तथा विवेक व तत्त्वज्ञान के शिलाभित्ति पर स्थापित होकर, ऐश्वर्यलेशरहित माधुर्य से परिपूर्ण है।*

(क्रमश:)

* जैसे सूर्य और चन्द्रमा जगत् का सारा अन्धकार हरण करते हुए प्रकाश फैलाते हैं, वैसे ही ये दो भाई (चैतन्य व नित्यानन्द) जीवों के अज्ञानान्धकार का नाश कर, वस्तु-तत्त्वज्ञान का प्रचार करते हैं।

हिन्दू-धर्म के सामान्य आधार

स्वामी सत्यरूपानन्द

संसार में आज जितने भी सजीव एवं सक्रिय धर्म हैं, हिन्दू धर्म उन सब में प्राचीनतम है। वस्तुतः मानव सभ्यता की आयु ही हिन्दू धर्म की आयु है। मानव समाज की श्रेष्ठतम विभूतियों के परम पवित्र, सर्वथा शुद्ध, स्वार्थ-निरपेक्ष विशाल अन्तःकरण में हिन्दू धर्म के आधारभूत शाश्वत सत्यों का आविर्भाव हुआ था। इन शाश्वत सत्यों पर ही हिन्दू धर्म के दृढ़ और अक्षय सिद्धान्त स्थिर हैं। यही तथ्य हिन्दू धर्म एवं संस्कृति के चिरायु होने का रहस्य भी है।

उद्‌भव की दृष्टि से संसार के धर्मों को दो भागों में बाँटा जा सकता है।

(१) वे धर्म, जिनका प्रवर्तन किसी मसीहा, पैगम्बर या अवतार ने किया है। ये धर्म व्यक्तिनिष्ठ हैं।

(२) वह धर्म जिसका प्रवर्तन किसी अवतार आदि ने नहीं किया, अपितु जो सत्य के शाश्वत सिद्धान्तों पर आधारित है। इस सत्य को प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले अनेकानेक महापुरुष इस धर्म में उत्पन्न हुए हैं। अपने अनुभव तथा जीवन द्वारा इन महापुरुषों ने धर्म के इन तथ्यों को पुनः पुनः प्रमाणित किया है तथा आज भी कर रहे हैं। इन्हें भी हम अवतार मानते हैं। किन्तु ये इस धर्म के प्रवर्तक नहीं हैं। ये लोग धर्म के शाश्वत तथ्यों की अभिव्यक्ति के अत्यन्त सशक्त, देदीप्यमान आधार मात्र हैं। इसी कारण यह धर्म व्यक्तिनिष्ठ न होकर तत्वनिष्ठ है। कहना न होगा कि मात्र हिन्दू धर्म ही इस श्रेणी का धर्म है।

हिन्दू धर्म पर यह आरोप लगाया जाता है कि, यह एक धर्म न हो कर अनेक धर्मों का समूह मात्र है। हिन्दू धर्म के नाम से परिचित धर्म में सैकड़ों सम्प्रदाय और धर्म सम्मिलित हैं।

हिन्दू धर्म के प्रति भ्रामक धारणा

गत दो शताब्दियों से हिन्दू नाम से परिचित धर्म, संस्कृति, समाज तथा जाति को दीन-हीन, बर्बर, असभ्य आदि बताने का कुत्सित प्रयास विदेशियों तथा विधर्मियों द्वारा किया जाता रहा है। दासत्व तथा इस प्रकार के अनर्गल प्रचार के परिणामस्वरूप हिन्दू जाति भी अपने आपको दीन-हीन समझने लगी और सत्य की वज्रदृढ़ नींव पर आधारित अपने महान धर्म को अंधविश्वासी, साम्प्रदायिक तथा अनेक मतों का समूह मानने लगी। सत्य के सर्वथा विपरीत इन भ्रान्तिपूर्ण विचारों के प्रचार एवं प्रभाव के कारण इस महान हिन्दू धर्म के अनुयायी बंधु ही अपनी अपनी उपासना पद्धतियों को पृथक धर्म मान कर स्वयं को हिन्दू न कह कर उस सम्प्रदाय विशेष के नाम से संबोधित करने लगे। कोई वैष्णव, कोई शाक्त, कोई शैव, तो कोई आर्यसमाजी कहलाने लगे। किन्तु यदि हम इन सभी सम्प्रदायों के आधारभूत तत्वों को देखें तो हम पायेंगे कि इन सभी सम्प्रदायों के मध्य सनातन हिन्दू धर्म की वही एक सर्व समन्वयकारिणी उदार भाव-सरिता प्रवाहित हो रही है।

जिस हिन्दू धर्म के सामान्य आधारों की हम चर्चा करने जा रहे हैं वह क्या है इस विषय की चर्चा करते हुए युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द ने लाहौर के अपने प्रसिद्ध व्याख्यान में कहा है, "हम लोग हिन्दू हैं। मैं हिन्दू

शब्द का प्रयोग किसी बुरे अर्थ में नहीं कर रहा हूँ। और मैं उनसे कदापि सहमत नहीं हूँ जो इससे कोई बुरा अर्थ समझते हैं। प्राचीन काल में उस शब्द का अर्थ था सिन्धु नदी के दूसरी ओर बसने वाले लोग।"*

सिन्धु नदी की दूसरी ओर पुण्य भूमि भारत में बसने वाले उन मनीषियों द्वारा आचरित धर्म जिसे वेदों ने गाया, उपनिषदों ने जिसकी घोषणा की, भगवान कृष्ण ने जिसे गीता में गाया, हमारे पुराणों ने जिसे रूपककथाओं में कहा, पुण्यक्षेत्र गया तीर्थ में बोधिवृक्ष के तले तथागत बुद्ध को जिसका बोध हुआ, युवराज वर्द्धमान को कैवल्य ज्ञान प्राप्त करा कर जिसने तीर्थंकर महावीर बना दिया, नानक मोदी को जिसने गुरुनानक देव बना कर हिन्दुओं की एक परम पराक्रमी शाखा सिक्ख सम्प्रदाय का परम आराध्य बना दिया तथा इस पुण्य भूमि भारत में जो भी महिमामय था, वर्तमान में जो महिमा मंडित और आध्यात्मिक है, शुद्ध, शाश्वत और पवित्र बनाने वाला तत्व है वही सनातन हिन्दू धर्म है।

ऐसा महिमा मंडित महान हिन्दू धर्म आज इतने अधिक सम्प्रदायों में क्यों विभाजित हो गया है? इन विभिन्न सम्प्रदायों को एक सूत्र में बाँधने वाले कोई सामान्य आधार हैं क्या? ये प्रश्न प्रायः सभी के मन में उठते हैं।

निस्सन्देह हिन्दूधर्म में ऐसे कतिपय दृढ़ सामान्य आधार है जो इस धर्म के सभी सम्प्रदायों को सदियों से मान्य है। भिन्न-भिन्न उपासना प्रणालियों का अनुसरण

* विवेकानन्द साहित्य, पंचम खं. पृ. २५९

करते हुए भी ये सभी सम्प्रदाय हिन्दू धर्म के ही विभिन्न अंग हैं।

हिन्दू धर्म तत्वनिष्ठा पर आधारित है, व्यक्ति-निष्ठा पर नहीं।

हमने देखा कि हिन्दू धर्म व्यक्तिनिष्ठ न हो कर तत्त्वनिष्ठ है। यह हमारे धर्म की एक ऐसी विशेषता है जो उसे विश्व के अन्य धर्मों की तुलना में विश्वजनीन धर्म होने की सामर्थ्य प्रदान करती है। तत्त्वनिष्ठ होने के कारण यह धर्म तत्त्व की उपलब्धि के मार्ग के सम्बन्ध में कोई दुराग्रह नहीं करता। व्यक्ति की अपनी योग्यता और सामर्थ्य के अनुसार उसे श्रेय साधन का अपना पथ चयन करने की पूर्ण स्वतंत्रता है। अपनी-अपनी रुचि एवं योग्यता के अनुसार साधना करते हुए धर्मजीवन यापन करने के कारण ही हिन्दू धर्म में इतने अधिक सम्प्रदाय दीख पड़ते हैं। विभिन्नता में एकता की अनुभूति हिन्दू धर्म की अपनी मौलिक विशेषता है।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि को ध्यान में रख कर जब हम हिन्दू धर्म पर विचार करते हैं तब हमें कुछ मूलभूत ऐसे आधार स्पष्ट दीख पड़ते हैं जो कि हिन्दू धर्म की सभी शाखाओं-प्रशाखाओं एवं सम्प्रदायों को मान्य हैं। इतना ही नहीं, ये सामान्य आधार ही हिन्दू धर्म के सभी सम्प्रदायों की भित्ति हैं। इन्हीं सामान्य आधारों के कारण सभी सम्प्रदाय एक महान हिन्दू धर्म के अंगप्रत्यंग बन कर हिन्दू के नाम से सम्बोधित होते हैं। इस छोटे से लेख में हम केवल विहंगम दृष्टि से ही उन सामान्य आधारों पर विचार करने का प्रयत्न करेंगे।

आत्मा:—हिन्दू धर्म के सभी सम्प्रदायों में यह तथ्य स्वीकार किया गया है कि मनुष्य केवल अस्थि मांस का समुच्चय मात्र नहीं है। इस अस्थि मांस के पिण्ड को चैतन्य एवं गतिशील करने वाला एक शाश्वत चैतन्य तत्त्व इसके पीछे विद्यमान है। यह चैतन्य तत्त्व ही मनुष्य का सच्चा स्वरूप है। यह चैतन्य तत्त्व ही जीवन शक्ति है तथा इसके कारण ही मनुष्य को जगत और स्वयं का ज्ञान होता है। इस नश्वर देह के पीछे जो अविनाशी देही है, वही आत्मा है। गीता कहती है—

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।।२।३०

"हे भारत! यह आत्मा सबके देह में सर्वदा अवध्य है। इसलिए सभी प्राणियों के लिए तू शोक करने योग्य नहीं है।"

हिन्दू धर्म के सभी सम्प्रदायों ने इस आत्मा को अजर, अमर, अविनाशी, अक्षय, शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य, ज्ञान स्वरूप माना है। सभी यह स्वीकार करते हैं कि इस आत्मा का नाश नहीं किया जा सकता। आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में गीता कहती है:—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।।२।२३

"इस आत्मा को शस्त्रादि नहीं काट सकते, आग जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता और हवा सुखा नहीं सकती।"

इस प्रकार आत्मा को अविनाशी कहा गया है। वेदों को प्रमाण मानने वाले हिन्दू धर्म के सभी सम्प्रदाय एक स्वर से गीता में प्रतिपादित आत्मा की अमरता के

इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं । वेदों को प्रत्यक्ष रूप से प्रमाण न मानने वाले जैन बन्धु भी आत्मा की अमरता को स्वीकार कर विशाल हिन्दू धर्म के अङ्गीभूत हो जाते हैं । प्रसिद्ध जैन दार्शनिक गुणरत्न ने 'चेतना लक्षणो जीवः' इस परिभाषा को स्वीकार किया है ।

ईश्वरः—हिन्दू मात्र ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है । स्थान काल आदि के भेद के कारण तथा दार्शनिकों की विचार पद्धति में भेद होने के कारण ईश्वर के स्वरूप, प्रकृति आदि के सम्बन्ध में विचार-वैभिन्य पाया जाता है । यह भिन्नता भी हिन्दू धर्म की अपनी विशेषता है जो उसे इतर धर्मों की तुलना में अति उदार एवं सहिष्णु बनाती है । हिन्दू धर्म के सभी सम्प्रदाय ईश्वर को सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, पूर्ण चैतन्य, आनन्द स्वरूप आदि मानते हैं । जो सम्प्रदाय ईश्वर का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानत वे अपने इष्ट महापुरुषों, तीर्थंकरों आदि में इन ईश्वरीय गुणों का आरोप कर उन्हीं की पूजा उपास-नादि करते हैं । ईश्वर की भक्ति प्राप्त करना, उनका कृपाभाजन बनना, ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त कर उनके अनुरूप हो जाना आदि विभिन्न भावों से सभी हिन्दू ईश्वर की उपासना करते हैं । गीता स्पष्ट शब्दों में ईश्वर के अस्तित्व की घोषणा करती है ।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।१८।६१

"हे अर्जुन, ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्थित रहकर अपनी माया से यंत्रारूढ़ की भाँति उन्हें घुमाते हैं ।"

ईश्वर सम्बन्धी गीता की यह उक्ति हिन्दू धर्म के प्रायः सभी सम्प्रदायों को मान्य है ।

संसार:—हिन्दू धर्म तथा दर्शन में संसार शब्द का विशेष अर्थ एवं महत्व है। यद्यपि यह शब्द जनसाधारण में बहु प्रचलित है तथापि इसका अर्थ उस परिमाण में जनसाधारण में सुपरिचित नहीं है।

संसार शब्द संस्कृत के 'सृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है चलना, जाना या प्रगति करना। जो सतत-संसरणशील है, अर्थात् अस्थिर, या परिवर्तनशील है वह संसार है। संसार के सम्बन्ध में हिन्दुओं की यह धारणा उनके धर्म और दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इस धारणा से कर्मवाद और पुनर्जन्मवाद का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

अतीन्द्रिय सत्य:—हिन्दू धर्म के महान आचार्यों ने अपने अनुभवों द्वारा यह उपलब्ध किया कि दृश्यमान इन्द्रियगम्य यह जगत ही सर्वस्व नहीं है। इसके पीछे एक अतीन्द्रिय अद्वितीय तत्त्व विद्यमान है। वही सत्य है। दृश्य जगत उसकी एक झलक मात्र है। इन्द्रियातीत इस सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है।

यहाँ एक प्रश्न आता है कि यह जो दृश्यमान जगत दीख पड़ता है क्या वह खरगोश के सींग के समान असत्य है? नहीं, हिन्दू धर्म उसे इस प्रकार असत्य नहीं कहता। उसका कहना है यह जगत 'अनित्य' है अर्थात् चिरस्थायी नहीं है। सतत् परिवर्तनशील है, नश्वर है। संसार में जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है उसका विनाश अवश्यम्भावी है।

उपर्युक्त अर्थ में संसार के अनित्य होने के कारण उसके सुख-दुःख भी क्षणिक अर्थात् अस्थायी हैं। इससे यह सिद्धान्त निष्पन्न होता है कि संसार के तथाकथित सुख-भोगों में आसक्त होना उचित नहीं है। इस प्रकार की

भ्रमपूर्ण आसक्ति से हमें सुख के बदले दु:ख ही अधिक मिलते हैं। स्थायी सुख की प्राप्ति तो उस अतीन्द्रिय सत्ता की अनुभूति से हीं होती है जो कि इस अनित्य संसार का आधार है।

अत: यह संसार हिन्दुओं की दृष्टि में उस अतीन्द्रिय तत्त्व की उपलब्धि के लिए प्राप्त कर्मक्षेत्र है, विषयासक्त हो भोग भोगने का रंगमंच नहीं। इसे कर्मक्षेत्र मान कर सभी व्यक्ति को अपनी शक्ति के अनुसार उस अतीन्द्रिय तत्त्व की अनुभूति का प्रयत्न करना चाहिए। इस दृष्टि से यह संसार मानो एक विशाल उपासना गृह है जहाँ अगणित लोग अपनी रुचि के अनुसार साधना कर इष्ट प्राप्ति की चेष्टा कर सकते हैं।

अपवाद छोड़कर हिन्दू धर्म की सभी शाखाओं को संसार के सम्बन्ध में यह मत मान्य है। सभी संसार को कर्मक्षेत्र या धर्मक्षेत्र ही मानते हैं। सभी यह स्वीकार करते हैं कि अनित्य होने के कारण इसमें आसक्त नहीं होना चाहिए।

धर्म:—धर्म के सम्बन्ध में हिन्दुओं की धारणा संसार के इतर धर्मों से बहुत भिन्न है।इसी कारण यहाँ धर्म के नाम पर कोई कलह नहीं है। सभी हिन्दू यह स्वीकार करते हैं कि धर्म के यथोचित आचरण के द्वारा ही हम जीवन में स्थायी शान्ति प्राप्त कर सकते हैं। धर्माचरण ही हमें मोक्ष तक पहुँचा सकता है। हिन्दुओं के लिए धर्म कोई उपासनाप्रणाली न होकर एक जीवन-पद्धति है। हिन्दू मात्र यह विश्वास करता है कि जहाँ धर्म है वहीं जीवन में विजय प्राप्त होती है। इसलिए हिन्दू जीवनप्रणाली में जीवन का प्रत्येक कार्य धर्म द्वारा ही संचालित तथा नियं-

न्वित होता है। धर्म ही हिन्दू जीवन-योजना का आधार-स्तंभ है। इसीलिए जीवन के सर्वांगीण विकास एवं उन्नति के सभी तत्त्व हिन्दुओं की दृष्टि में धर्म के अन्तर्गत ही आते हैं। इसीलिए हिन्दू धर्म-जीवन जीवन के संतुलित विकास पर जोर देता है। यह धर्म जीवन में अभ्युदय तथा निःश्रेयस दोनों की उपलब्धि का मार्ग बताता है। हिन्दू धर्म के सभी पन्थ धर्म के इस स्वरूप को स्वीकार करते हैं।

कर्मवाद:—कर्मवाद का सिद्धान्त हिन्दू धर्म और दर्शन की विश्व को एक अद्वितीय देन है। इस संसार की विचित्रता तथा व्यक्ति-व्यक्ति के अगणित भेदों का रहस्य हमें केवल कर्मवाद के सिद्धान्त से ही प्राप्त होता है। और कोई दर्शन इस भिन्नता और वैचित्र्य का कारण बताने में समर्थ नहीं है। कर्मवाद कहता है कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। वर्तमान में हम जो भी हैं वह भूत काल या गत जन्मों में हमारे किये गये कर्मों का ही परिणाम है। अतः भविष्य में भी हम जो होंगे वह हमारे वर्तमान कर्मों का ही परिणाम होगा। इसी शृंखलाबद्ध नियम के आधार पर हिन्दू धर्म कहता है कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता है। गीता तो आह्वान के स्वर में इसकी घोषणा करती है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।६।५

"अपनी आत्मा का अपने आप उद्धार करे, उसकी अधोगति न करे, क्योंकि मनुष्य स्वयं अपने आपका शत्रु और मित्र है।"

कर्मवाद इस बात की घोषणा करता है कि मनुष्य चाहे तो अपने सद् कर्मों द्वारा 'जीव' से 'शिव' हो सकता है, 'नर' से 'नारायण' हो सकता है। संक्षेप में कर्म-सिद्धान्त मनुष्य के असीम सामर्थ्यशाली स्वरूप पर विश्वास करता है, तथा पुरुषार्थ द्वारा उसे अपने इस असीम सामर्थ्यशाली व्यक्तित्व का अनुभव करने का आह्वान करता है।

हिन्दू धर्म के सभी सम्प्रदाय कर्मवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं।

मोक्षः—यदि एक शब्द में हिन्दू धर्म का उद्देश्य व्यक्त करना हो तो वह होगा– 'मोक्ष'। हिन्दू धर्म के सभी विधि-विधान, उपासना-साधना आदि इसी एक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हैं। इसकी प्राप्ति ही धर्मजीवन की पूर्णता है।

हमने यह देखा कि हिन्दू ऋषि-मुनियों ने अपनी महान साधनाओं द्वारा सत्य का साक्षात्कार किया तथा करुणावश लोककल्याणार्थ उस सत्य तथा उसकी उपलब्धि का मार्ग जन साधारण को विभिन्न प्रकार से बताया। उन्होंने हमें बताया कि केवल इन्द्रियगम्य जगत ही सब कुछ नहीं है। इन्द्रियों के परे भी एक तत्त्व है जो असीम और पूर्ण है। वह तत्त्व सत् चित् आनन्द स्वरूप है। उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति के द्वारा ही मनुष्य पूर्णकाम होकर शाश्वत शान्ति का अधिकारी हो सकता है।

तृष्णा ही हमारे दुःखों का कारण है। तृष्णा से मन में कामना का जन्म होता है। कामना हमें कर्म करने को प्रेरित करती है। कर्मों का फल होता है तथा कर्त्ता उन फलों की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता के अनुसार सुख

या दुःख के घात-प्रतिघातों को सहते हुए अतृप्त और अशांत रहता है। तृष्णाओं की तृप्ति तथा कामनाओं की पूर्ति असंभव है। उनके त्याग के द्वारा ही उनसे मुक्ति मिल सकती है। इस बात को समझ कर जब व्यक्ति धीरे-धीरे तृष्णाओं का त्याग करता जाता है तब उसका मन भी धीरे-धीरे शांत और एकाग्र होता जाता है। उसकी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होने लगती हैं। चित्त शुद्ध होता जाता है। जन्म जन्मान्तर की साधना से जब साधक का चित्त सर्वथा शुद्ध हो जाता है तब उसे जिस सत् चित् आनन्दस्वरूप तत्त्व की उपलब्धि होती है वही मोक्ष है। मोक्ष की प्राप्ति ही मानव जीवन का लक्ष्य है।

हिन्दू धर्म के सभी सम्प्रदाय मोक्ष को मानव जीवन के लक्ष्य के रूप में स्वीकार करते हैं। कोई उसे मुक्ति कहता है तो कोई आत्मोपलब्धि, कोई कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति कहता है तो कोई निर्वाण। इस उपलब्धि की ओर इंगित करने वाले शब्द भले ही भिन्न-भिन्न हों किन्तु उनका भाव एक है।

नैतिकता:—नैतिकता हिन्दू धर्म की एक महत्वपूर्ण आधार शिला है। नैतिकता का अर्थ हिन्दुओं के लिए केवल आचारशुद्धि ही नहीं है। विचारों की शुद्धि पर हिन्दू नीतिशास्त्र विशेष बल देते हैं। नैतिकता हिन्दू धर्म रूपी भवन का लौह आधार है। नैतिक नियमों के प्रत्यक्ष आचरण के बिना कोई भी व्यक्ति हिन्दू धर्म का अनुयायी नहीं हो सकता। काम, क्रोधादि मलिन वृत्तियों से मन को सर्वथा मुक्त कर उसे पूर्णतः शुद्ध कर लेना नैतिकता का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति में लोक संग्रहार्थ निष्काम कर्म करने का हिन्दू नीतिशास्त्र उपदेश देता है।

सभी हिन्दू-सम्प्रदाय नैतिकता पर आस्था रखते हैं तथा उसे आध्यात्मिक जीवन की आधारशिला मानते हैं।

इष्टनिष्ठा और समन्वय:—इष्टनिष्ठा और समन्वय हिन्दू धर्म की अपनी महान मौलिक विशेषता है। सामान्य मनुष्य का मन इतना सूक्ष्म और चिन्तनशील नहीं होता कि वह सहसा इन्द्रियातीत तत्त्व का चिन्तन करने लगे या उसे पकड़ ले। इस तथ्य को ध्यान में रख कर हिन्दू ऋषि मुनियों ने सामान्य साधकों के लिए इष्ट का विधान किया है। इन्द्रियगम्य प्रतीकों के सहारे धीरे-धीरे इन्द्रियातीत तत्व का चिन्तन-मनन तथा साक्षात्कार किया जा सकता है। इन प्रतीकों के माध्यम से उस अखंड अद्वयतत्व की ही उपासना की जाती है जिसका कि वे प्रतिनिधित्व करते हैं। वस्तुतः तत्व एक है, अनेकता उसे अभिव्यक्त करने वाले माध्यमों में ही है। श्रीरामकृष्ण के शब्दों में 'जल एक है, कोई उसे 'पानी' कहता है, कोई 'वाटर' कहता है तो कोई 'एक्वा'।

अपनी-अपनी रुचि के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक साधना के लिए इष्ट देवता या प्रतीक का चयन कर सकता है। अपने चुने हुए इष्ट के प्रति दृढ़ निष्ठा रखकर यथाक्रम साधना करने पर आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है। यह हिन्दू शास्त्रों का मत है। इसीलिए विभिन्न देवी देवताओं के रूप में हिन्दू-धर्म ने अनगिनत प्रतीकों को स्वीकार किया है। हमारी रुचि के अनुकूल ईश्वर का प्रतीक हमारा इष्ट है। उसके प्रति अटूट श्रद्धा ही इष्ट निष्ठा है।

हिन्दू धर्म का यह इष्ट सिद्धांत अत्यन्त सुचिंतित, मनोवैज्ञानिक तथा उदार है। मनुष्य की प्रकृति भिन्न-

भिन्न होने के कारण उसके लिए भिन्न-भिन्न उपासना-पद्धति का होना भी उसकी आध्यात्मिक उन्नति के लिए परम आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसका अपना इष्ट श्रेष्ठ एवं सिद्धिदायक है। हिन्दू धर्म किसी के भी इष्ट की निन्दा नहीं करता, कहना न होगा कि उल्टे सभी इष्टों को ईश्वर के प्रतीक के रूप में स्वीकार कर उनमें एक अद्भुत समन्वय तथा आंतरिक ऐक्य देखता है।

गुरु एवं साधुसंगः—गुरु को जितना महत्त्व हिन्दू धर्म में दिया गया है उतना संभवतः संसार के अन्य किसी धर्म में नहीं दिया गया है। हिन्दू साधक के लिए गुरु साक्षात् परमब्रह्म परमेश्वर है। उसकी उपासना भगवान की ही उपासना है। गुरु की कृपा से सहज ही भवसागर को पार किया जा सकता है। इन महान आध्यात्मिक गुरुओं के कारण ही हिन्दुओं की आध्यात्मिक सम्पदा आज भी सुरक्षित है। यहाँ तक कि भगवान के अवतारों, श्रीराम, श्रीकृष्ण तथा आधुनिक युग में भगवान श्रीरामकृष्ण ने भी क्रमशः वशिष्ठ, संदीपनी तथा श्री तोता पुरी जैसे महापुरुषों को गुरु रूप में स्वीकार किया था।

गुरु की भाँति साधुसंग को भी हिन्दू धर्म आध्यात्मिक उन्नति के लिए आवश्यक एवं उपादेय मानता है। सभी हिन्दू यह स्वीकार करते हैं कि आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्नत महापुरुषों का अधिकाधिक संग करना चाहिए। उनके सत्संग से आध्यात्मिक जगत में हमारी उन्नति शीघ्रता से होती है।

हिन्दू धर्म के सभी सम्प्रदायों का गुरु की महानता तथा साधुसंग की उपादेयता पर मतैक्य है।

ऊपर की पंक्तियों में शाश्वत सनातन हिन्दू धर्म के कुछ ऐसे आधारों पर जो सर्वमान्य है, अत्यन्त संक्षेप में विचार किया गया है तथा हिन्दू धर्म की अविभाज्य एकता की ओर अंगुलि निर्देश मात्र किया गया है। वास्तव में हिन्दू धर्म के सभी तत्त्व अनेकत्व से एकत्व की ओर ही ले जाते हैं। तत्त्व एक ही है, विद्वान उसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। 'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति।'

आज अपने देश में अनेक विघटनकारी प्रवृत्तियाँ सक्रिय हो उठी हैं। देश मानो खंडित और विघटित होने जा रहा है। सभी देशभक्त राष्ट्रीय एकता के तत्वों के अन्वेषण में लगे हैं। धर्म भारत राष्ट्र का प्राण है। धर्म के मंगलकारी संयोजक तत्त्वों द्वारा विघटन मुखी राष्ट्र का पुनर्गठन किया जा सकता है। इसलिए आज इस बात की महती आवश्यकता है कि हम अपने धर्म के उन समन्वयकारी सामान्य आधारों पर विचार करें जो अगणित विभिन्नताओं के मध्य भी हमें अविभाज्य एकता की ओर ले जाते हैं। हिन्दू धर्म के ये सामान्य आधार जिनके सम्बन्ध में हम जैन, बौद्ध , शाक्त, शैव, सिख आदि सभी मतैक्य रखते हैं, इस तथ्य की ओर इंगित करते हैं कि मूलतः शाश्वत सनातन धर्म एक ही है तथा उस महान धर्म के अनुयायी होने के नाते हम सब परस्पर सहोदर भाई ही हैं।

इस अति सामान्य छोटे से लेख को अमूर्त ईश्वर के मूर्त स्वरूप इस वृहत समाज को समर्पित कर प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि वे हमें असत्य से सत्य की ओर तथा अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलें।

स्वामी माधवानन्दजी की वाणी

संकलक—स्वामी शरण्यानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, कनखल

(रामकृष्ण मठ और मिशन के नवम अध्यक्ष स्वामी माधवानन्द जी महाराज समय समय पर धर्मचर्चा किया करते थे, जिससे साधु एवं भक्तगण को बड़ा लाभ होता था। उनके उपदेशों, प्रश्नोत्तरों तथा कुछ पत्रों का प्रस्तुत संकलन रामकृष्ण मिशन जनशिक्षा मन्दिर, बेलुड़ मठ के १९९० ई. की वार्षिक स्मारिका में बँगला भाषा में प्रकाशित हुआ था, जहाँ से यह साभार गृहीत एवं अनुदित हुआ है। —स.)

मन बड़ा ही चंचल है, आसानी मे स्थिर होना नहीं चाहता। अतः जप करते समय मन को इस तरह समझाना, "तुम थोड़े शान्त हो जाओ। मुझे जप करने दो।" मन एक शिशु के समान है, समझाने पर मान जाता है। मन के ऊपर कभी बल का प्रयोग मत करना, अन्यथा वह टेढ़ापन दिखायेगा।

ठाकुर से प्रार्थना करना कि वे तुम पर शीघ्र कृपा करें और इसी जन्म में मुक्त कर दें। करुण स्वर में उनसे कहना, "संसार से मुक्त करके तुम मुझे यहाँ लाये हो, बाकी भी कृपा करके पूरा कर दो।" व्याकुलता रहे तो वे अवश्य सुनेंगे। जप-ध्यान में पहले-पहल आनन्द पाना कठिन है। वह तो केवल कुछ उन्हीं भाग्यवान लोगों को मिलता है, जो पिछले जन्मों में काफ़ी साधन-भजन कर चुके हैं। नीरस लगे तो भी औषधि सेवन के समान नियमित रूप से जप-ध्यान किये जाओ। हताश मत होना, इस जन्म में मुक्ति न भी हो तो बाद के जन्म में होगी।

कर्म के प्रति विरक्ति का भाव मत लाना; बल्कि परिश्रम करते करते मर जाओ, तो भी अच्छा है। इससे

ठाकुर प्रसन्न होंगे और स्वामीजी भी आनन्दित होंगे। कर्मयोग का प्रवर्तन करके स्वामीजी ने हम लोगों को बचा लिया है, नहीं तो दिन भर जप-ध्यान करना क्या हमारे लिए सम्भव है ?

सदा स्मरण रखना कि साधु जीवन सांसारिक जीवन की तुलना में पूर्णतः श्रेष्ठ है। संसार का जीवन भी उत्तम है--ऐसी बात को कभी मन में स्थान मत देना। याद रहे कि ठाकुर की दया से ही तुम संसार त्यागकर यहाँ (आश्रम में) आ सके हो। अपनी प्रबल इच्छा रहे तो भी ठाकुर की कृपा के बिना तुम संसार का त्याग नहीं कर पाते।

मन को क्या इतनी जल्दी शान्त किया जा सकता है ? पूरे हृदय से प्रयास करो, ठाकुर की कृपा से समय पर फल होगा। मन चाहे स्थिर हो या न हो, पर नियमित रूप से जप-ध्यान मत छोड़ना। हताशा में न डूबकर ईश्वर पर विश्वास रखने की कोशिश करो। उनके समक्ष अपने मन का दुःख व्यक्त करो और यथासाध्य जप-ध्यान किये जाओ। इसी से सब ठीक हो जाएगा।

पिछले जन्मों के अनेक संस्कार मन में एकत्र पड़े हैं, जो बीच बीच में मन को चंचल कर डालते हैं। अतः बारम्बार चेष्टा करके मन को संयत करने का प्रयास करो, अन्यथा वह सिर पर सवार हो जाएगा। जप-ध्यान, प्रार्थना, स्वाध्याय—इनकी सहायता से मन को शान्त किया जा सकता है।

हमारे चारों ओर तरह तरह की भोग की चीजें बिखरी हुई हैं। कम उम्र से ही सावधान न रहने पर भावी जीवन में वे मन को खूब हिलाती हैं। बुरे विचार

मन में अपने आप नहीं आते। हम उन्हें मौका देते हैं इसी कारण वे आसानी से मन में प्रवेश करते तथा उसे प्रभावित करते हैं। इसका प्रतिकार है मन में पवित्र चिन्तन की एक धारा बहा देना, यथा श्री रामकृष्ण के पवित्र जीवन का अनुध्यान करना। बुद्धिमान लोग मन को कभी स्वाधीनतापूर्वक इधर-उधर भटकने नहीं देते।

ठाकुर और माँ के चरणों में प्रतिदिन हार्दिक प्रार्थना करो कि वे कृपा करके मन की समस्त दुर्बलताओं को दूर कर दें, ध्यान रखो कि मन में कोई बुरा विचार प्रवेश न करने पाये। शुरू शुरू में इसका अभ्यास कठिन है, तो भी दृढ़तापूर्वक प्रयास करने पर यह सम्भव हो जाता है। मन ही मन प्रतिज्ञा करो कि तुम कभी कोई गलत काम नहीं करोगे।

कभी अपने को पापी या अधम मत मानना। बल्कि स्वामीजी के भाव के अनुसार सोचना कि आत्मा की अनन्त शक्ति तुम्हारे भीतर विद्यमान है, उसे केवल अभिव्यक्ति की जरूरत है।

गीता के इस श्लोक की बारम्बार आवृत्ति करना—

उद्धरेद् आत्मनात्मानं नात्मानं अवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः आत्मैव रिपुरात्मनः ॥६।५

"मनुष्य विवेकयुक्त मन के द्वारा स्वयं ही संसार से अपना उद्धार करे, कभी अपने को विषयासक्त न होने दे। क्योंकि शुद्ध मन ही मनुष्य का सच्चा हितकारी तथा मुक्ति का कारण है और विषयासक्त मन उसका परम शत्रु एवं बन्धन का मूल है।"

प्रश्नोत्तर

प्रश्न——ईश्वर की कृपा क्या है और उसे कैसे पाया जा सकता है ?

उत्तर——तुम अपनी क्षमता के अनुसार साधन-भजन किये जाओ और उनकी कृपा के बारे में सोचो। वे तो सर्वदा ही कृपा को प्रस्तुत हैं। परन्तु वे देखते हैं कि भक्त कितनी व्याकुलता के साथ उन्हें चाह रहा है। जैसे पानी में डूबता हुआ आदमी थोड़ी सी हवा के लिए छटपटाता है, वैसी ही व्याकुलता की जरूरत है। यदि तुम सचमुच ही भगवान को चाहो और उनकी ओर एक डग आगे बढ़ो तो वे तुम्हारी ओर दस कदम बढ़ आयेंगे। वे अयोग्य व्यक्ति के समक्ष कभी अपना स्वरूप प्रकट नहीं करते।

प्रश्न——ध्यान करने बैठने पर मन इधर-उधर दौड़ता रहता है। इसे रोकने का क्या उपाय है ?

उत्तर——यह समस्या बहुत से लोगों को है। ध्यान करना वास्तव में कठिन है। बल्कि जप या भगवान के पवित्र नाम का उच्चारण करना सहज है। जप करते समय यदि मन थोड़ा घूमना-फिरना चाहे, तो उसे थोड़ी स्वाधीनता दो, परन्तु उस पर नजर रखना। देखोगे कि मन धीरे-धीरे शान्त होता जा रहा है। मन को स्थिर करने में काफी काल लग सकता है। एक पूरा जीवन या फिर सम्भव है कई जन्म लग जाएँ। इस कारण डरना मत। ईश्वर-दर्शन के साथ विषय-सुख की कोई तुलना नहीं हो सकती। अत: जब तक लक्ष्य तक पहुँच नहीं जाते, प्राणापण से प्रयास किये जाओ।

पत्र

वेलुड़ मठ

प्रिय . . . १७-१०-५९

तुम्हारा ६ तारीख का विस्तृत पत्र और बाद में विजया दशमी की चिट्ठी पाकर आनन्दित हुआ। पहला पत्र पढ़ने में परिश्रम करना पड़ा। तुमने उसे पतले निब से फीकी स्याही में बड़ा सघन लिखा है और सब अक्षर स्पष्ट नहीं लिखे। मेरा भी कई महीने पूर्व लिया हुआ चश्मा ठीक फिट नहीं हुआ है। अतः मणि-कांचन संयोग हो गया था।

तुम अल्मोड़ा में मजे में हो यह जानकर प्रसन्न हुआ। सुना कि तुम 'माण्डुक्यकारिका' पढ़ रहे थे। सुनकर प्रभु महाराज बोले, "कहीं उसका सिर न फिर जाय!" वस्तुतः वह दुष्पाच्य वस्तु भक्तों के लिए नहीं है। अस्तु, भक्तिग्रन्थों का पर्याप्त भार देकर मन को सन्तुलित रखना।

अल्मोड़ा जैसे स्थान में तरुण साधुओं को थोड़े-थोड़े दिन करके रहना ही अच्छा है। नहीं तो 'नैष्कर्म्यसिद्धि' यदि एक बार पकड़ बैठे तो उसे आसानी से दूर नहीं कर सकोगे। हम ठाकुर की सेवा के लिए ही इस संघ में सम्मिलित हुए हैं। Aetive work (सक्रिय कर्म) ही इसका उचित मार्ग है।

शास्त्र आदि चाहे जो भी पढ़ो, परन्तु जीवन के पथ-निर्माण में ठाकुर स्वामीजी के उपदेश ही हमारे लिए final guide (चरम पथप्रदर्शक) होंगे। कार्य से कभी डरना नहीं। कहीं भी गड़बड़ी होने पर दोष कार्य का नहीं हमारा ही होता है। उसका समाधान है अपने को और भी अच्छी तरह adjust (सामंजस्य) करने का प्रयास करना। अच्छी तरह तैरना सीखने के लिए किनारे पर कसरत करने से काम नहीं होगा।

तुम हम लोगों का विजया दशमी का स्नेह और शुभकामनाएँ लेना ।

शुभाकांक्षी
माधवानन्द

बेलुड़ मठ
(?) जुलाई, १९६४

प्रिय...

तुम्हारा १७ तारीख का पत्र यथासमय मिला । पहले का पत्र भी मिला था । आशा करता हूँ कि तुम बोध गया में ही होगे और यह पत्र तुम्हारे हाथ में पहुँचेगा । तुम एक बहुत बड़ा आदर्श लेकर रास्ते में निकल पड़े हो—फिर इस वर्षा के समय । आशा है तुम सकुशल हो ।

आदर्श खूब महान होना अच्छी बात है, परन्तु वह अभी रूपायित हो सकता है या नहीं इस विषय में सोच-समझकर अग्रसर होना चाहिए । स्वामीजी ने इस संघ की स्थापना करके मध्यम अधिकारियों के लिए ही साधारण भोजन और वस्त्र की व्यवस्था की थी । मुझे लगता है कि तुम्हारे लिए इस प्रकार impulse (आवेग) के वशीभूत न होकर, पहले के समान ही ठाकुर के आश्रय में रहकर अग्रसर होने का प्रयास करना उत्तम है । धैर्य के साथ इस विषय में विचार करके देखना । सड़क पर निकलने मात्र से ही यदि भगवान की प्राप्ति हो जाती तो बहुत से लोग उसके लिए प्रयास कर पाते । परन्तु भगवत्प्राप्ति उनकी कृपा पर ही निर्भर है । हमारे संघ में ठाकुर की सेवा के माध्यम से ही क्रमशः अग्रसर होना वांछनीय है ।

मैं ठीक ही हूँ । स्नेह और शुभकामनाएँ स्वीकार करना ।

शुभाकांक्षी
माधवानन्द

मानववाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) धर्मः यो बाधते धर्मान् स धर्मः कुधर्मकः

आरिफ़ सुभानी नामक एक पक्के दरवेश हो गये हैं। उन्हें दुनिया की किसी भी चीज़ से लगाव न था। पहनने के कपड़ों के अलावा उनकी अपनी कहलाने वाली कोई चीज़ नहीं थी। शान्तिप्रिय और सादगीपसन्द होने के कारण उनके विचार दूसरों से मेल नहीं खाते थे। मन्दिर, मस्जिद और गिरजाघर में भी वे कोई भेद नहीं मानते थे।

एक बार उनके पास एक व्यक्ति रियाज सीखने आया। तब उन्होंने उस व्यक्ति से पूछा, "क्या तुम्हें और कोई दूसरा आदमी नहीं मिला?" उस व्यक्ति ने कहा, "नहीं, आपसे ही सीखना है। इस पर सुभानी ने कहा, "भाई, यदि तू मुसलमान है, तो ईसाइयों के पास जा; अगर शिया है, तो इखराजियों (एक मुस्लिम संप्रदाय) के पास जा और अगर सुन्नी है तो ईरान जा।" उस व्यक्ति को यह सब अटपटा लगा, तब वे बोले, "मतलब यह कि तू जिस धर्म को मानता है, उस धर्म के विरोधी के पास जा। उस विरोधी के मुँह से उसके धर्म की बातें सुनते-सुनते जब तुझमें इतनी सहनशक्ति आ जाएगी कि तुझे किसी बात का दुःख न होगा और तुझे अपने विरोधियों के साथ भी रहने में हिचकिटाहट न होगी, तभी तुझे सच्ची शान्ति मिलेगी और खुदा के बंदों में तू स्थान पा सकता है। तू इस बात को अपनी गाँठ में बाँध ले कि कोई भी धर्म, दूसरे धर्म का बाधक नहीं होता। खोट हमारे मन में होती है कि हम अपने धर्म को श्रेष्ठ और दूसरे धर्मों को तुच्छ समझते हैं और उन्हें कुधर्म मानकर घृणा करते हैं।"

(२) आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः

सन्त डायोजिनीस मध्याह्न के समय हाथ में लालटेन लेकर नीचे जमीन की ओर देखते हुए ऐसे चले जा रहे थे, मानो उनकी कोई चीज़ खो गई हो और वे उसे ढूँढ़ रहे हों। लोग उनकी ओर देखते और इस दार्शनिक सन्त को उस हालत में देख उन पर व्यंग्य से हँसते हुए आपस में कुछ बुदबुदाते और आगे बढ़ जाते। आखिर कुछ लोगों ने उनसे पूछ ही लिया, "महोदय, आप इतने बड़े विद्वान होकर भी उजाले के समय लालटेन लेकर क्या ढूंढ़ रहे हैं? क्या आपका कुछ खो गया है?"

दार्शनिक महोदय ने क्षण भर उन लोगों की ओर देखा और बोले, "ऐ एथेन्सवासियो मैं चेतन प्राणी की खोज कर रहा हूँ, क्योंकि वह मुझे मिल ही नहीं रहा है।"

"क्या चेतन प्राणी को खोज रहे हैं?", एक व्यक्ति ने साश्चर्य उनसे पूछा, "यानि कि हम लोग चेतन प्राणी नहीं हैं?"

"हाँ, आप चेतन होकर भी अचेतन ही हैं।"

"मगर हम अचेतन कैसे हुए? भला चेतन और अचेतन में भेद क्या है—इसे समझाने का कष्ट करेंगे?"

सन्त ने कहा, "अवश्य। आप लोगों में से हर एक का कोई न कोई पेशा तो होगा ही और अपने-अपने पेशे से आप अपनी जीविका की समस्या हल करते होंगे। आप लोगों में कोई स्त्री होगा, तो कोई पुरुष; कोई धनी होगा तो कोई निर्धन। फिर भी आप लोगों में कोई भी चेतन नहीं है। आप सब लोग जड़ को ही अपना सर्वस्व मानते हैं, इस कारण जड़ ही हो गये हैं।" सन्त के इस गूढ़ वाक्य

का अर्थ किसी की समझ में नहीं आया । तब उन्होंने स्पष्ट करते हुए कहा—"आप लोगों में से कोई दुकानदार होगा, तो कोई व्यापारी, कोई मालिक होगा, तो कोई मजदूर । लेकिन क्या ऐसा ही बने रहना शाश्वत है ? क्या यह बदल नहीं सकता ? जबकि चेतन आत्मा प्रत्येक गति में; तीनों कालों में; शरीर, कर्म व विचारों से निर्विकार रहता है । यह एक ऐसा शाश्वत द्रव्य है, जो आत्मा से कभी अनात्मा (जड़) नहीं होता । यदि आत्मा इन शारीरिक अवस्थाओं का ही रूप हो जाएगा , तो वह (आत्मा) भी शरीर के नष्ट हो जाने पर नष्ट हो जाएगा । इसलिए आत्मा को पहचानने की कोशिश करो और जड़ बने रहने को ही इति मत समझो । चेतन बनने की कोशिश करो ।"

(३) कबिरा इस संसार का झूठा माया-मोह

प्रसिद्ध चीनी सन्त चांगत्से सदैव प्रसन्नचित रहते थे । उनके चेहरे पर कभी भी खिन्नता नहीं दीख पड़ता था । एक दिन जब लोगों ने उनके मुख पर उदासी देखी, तो पूछा, "महाराज ! आप पर भले ही कितनी भी विपदाएँ आएँ, पर आपके मुखमण्डल पर हमें हमेशा ताजगी और प्रसन्नता की झलक दिखाई देती है। लेकिन आज क्या कारण है कि आप उदास और खिन्न दिखाई दे रहे हैं ?"

चांगत्से ने कहा, "भाइयो, आपका कथन सही है। आज मैं सचमुच ही एक उलझन में पड़ गया हूँ, जिसे सुलझाने में मैं असमर्थ हूँ ।" लोगों ने कहा, "यह तो बड़े आश्चर्य की बात है कि हम अपनी समस्याएँ लेकर आपके पास आते हैं और आप उनका निराकरण व समाधान कर देते हैं, लेकिन आज तो आपको ही समस्या ने घेर लिया है ।

क्या आप हमें बताएँगे कि आपके सामने ऐसी कौन सी विकट समस्या आ गई है ?"

सन्त ने कहा, "सुनो ! कल रात मैंने एक स्वप्न देखा, जिसमें मैं एक तितली बनकर इस फूल से उस फूल पर मँडरा रहा था ।" लोगों ने कहा, "इसमें कौन सी समस्या आ गई ?" सन्त ने कहा, "जब मैंने स्वप्न में अपने को तितली बना देखा, तो क्या किसी तितली ने स्वप्न में अपने को आदमी बना हुआ नहीं देखा होगा! लेकिन इसे सत्य कौन मानेगा ?" लोगों के कुछ समझ में नहीं आया और वे आगे बढ़ गये । मगर एक व्यक्ति रुक गया और उसने उन्हें बात को स्पष्ट करने का आग्रह किया । तब सन्त ने कहा, "हम बाहर जो कुछ देखते हैं, वह खुली आँख का स्वप्न ही है । आँखें बन्द करते ही वह सब मिट जाता है, अदृश्य हो जाता है, क्योंकि आँखें बन्द होने पर हम दूसरी दुनिया में पहुँच जाते हैं । आँखें खोलने पर हमें जो दिखाई देता है, वह हमें सत्य मालूम पड़ता है, जबकि वह स्वप्नवत् होता है । यह संसार बड़ा मायावी है । यहाँ सत्य कुछ भी नहीं है, सब स्वप्न है—असत्य है । हम झूठे माया-मोह में फँस कर अपना सर्वस्व गँवाते रहते हैं और उसी को सत्य मानकर उलझते रहते हैं, यह हमारे ध्यान में ही नहीं आता । इसलिए हमें सब कुछ असत्य मानकर सत्कर्म करते रहना चाहिए ।

(४) सत्येन सत्यं ज्ञातव्यम्

यूनानी सन्त आगस्टिनस एक सुबह सागर के तट पर अकेले ही घूमने निकल पड़े । तब सूर्योदय हो रहा था । अनेक रातों के जागरण से उनकी आँखें थकी-माँदी

थीं। सत्य की खोज में वे अपना सारा सुख चैन खो बैठे थे। परमात्मा को पाने के विचार में उन्हें पता ही नहीं चलता था कि दिन और रात कब बीत जाते थे। शास्त्र और शास्त्र, शब्द और शब्द, विचार और विचार—इनके बोझ क नीचे ही वे दब गये थे।

लेकिन उस सुबह सागर तट पर घूमने आना उनके लिए बड़ा सौभाग्यपूर्ण सिद्ध हुआ। वे जब निकले थे, तो विचारों के बोझ से दबे थे, लेकिन जब लौटे तो कोई बोझ न था। सागर के किनारे उन्होंने एक बालक को खड़ा देखा, जिसके हाथ में एक छोटी-सी प्याली थी और वह किसी चिन्ता में डूबा हुआ था। आगस्टिनस ने बच्चे से पूछा, "बेटे ! तुम यहाँ क्या कर रहे हो और किस चिन्ता में डूबे हो।"

बच्चे ने आगस्टिनस की ओर देखा और कहा, "चिन्तित तो आप भी दिखाई दे रहे हैं, इसलिए पहले आप ही अपनी चिन्ता का कारण बताएँ। हो सकता है, जो मेरी चिन्ता है, वही आपकी भी हो। लेकिन आपकी प्याली कहाँ है?" आगस्टिनस के कुछ समझ में नहीं आया। प्याली की बात सुनकर उन्हें हँसी भी आयी। प्रकटतः उन्होंने कहा, "मैं सत्य की खोज में हूँ और उसी के कारण चिन्तित हूँ।" बच्चा बोला, "मेरी चिन्ता का कारण यह है कि मैं इस प्याली में सागर को भरकर घर ले जाना चाहता हूँ, लेकिन सागर है कि प्याली में आ ही नहीं रहा है।"

आगस्टिनस ने सुना, तो उन्हें अपनी बुद्धि की प्याली भी दिखाई दी और सत्य का सागर भी। वे हँसने लगे और बच्चे से बोले, "मित्र, सचमुच हम दोनों बालक ही

है, क्योंकि बालक ही सागर को प्याली में भरना चाहते हैं ।"

आगस्टिनस आगे बढ़ गये और सोचने लगे कि वस्तुतः संसार के सभी लोग बालक हैं और किसी न किसी सागर तट पर अपनी-अपनी प्यालियाँ लिये खड़े हैं । उन सबको इस बात का रंज है कि सागर उनकी प्यालियों में समा क्यों नहीं रहा है । कोई-कोई तो यह भी सोचने लगते हैं कि किसकी प्याली बड़ी है और किसकी प्याली में सागर के समा जाने की सर्वाधिक सम्भावना है । अब कौन उन्हें समझाए कि प्याली जितनी बड़ी होगी, सागर के उसमें समाने की सम्भावना उतनी ही कम होगी । क्योंकि बड़ी प्याली का अहंकार उसे छूटने नहीं देता है और सागर तो उसे मिलता है, जो प्याली छोड़ने का साहस दिखा पाता है ।

(५) दुनिया ऐसी बावरी

सन्त टालस्टाय सुबह पाँच बजे चर्च गये । सोचा वहाँ शान्त वातावरण में प्रार्थना सुन सकूँगा, किन्तु उन्हें यह देख आश्चर्य हुआ कि उनसे पहले भी एक व्यक्ति वहाँ पहुच गया है और कह रहा है, "हे परमात्मा ! मैंने इतने अधिक पाप किये हैं कि मुझे कुछ कहते लज्जा आ रही है । अतः हे भगवन्, मुझ पापी को क्षमा करना ।"

टालस्टाय ने सुना, तो सोचने लगे कि यह आदमी सचमुच ही कितना महान है कि सच्चे दिल से अपने अपराधों को स्वीकार कर रहा है । यदि किसी अपराधी को 'अपराधी' कहें, तो वह आगबबूला होकर मारने दौड़ता है और एक यह है कि स्वयं ही अपने को अपराधी मान रहा है ।"

निकट जाने पर टालस्टाय उस व्यक्ति को पहचान गये। वह नगर का एक लखपति सेठ था। ज्योंही उसकी दृष्टि टालस्टाय पर गई, वह घबराकर बोला, "आपने मेरे शब्द सुने तो नहीं?"

टालस्टाय ने कहा, "हाँ सुने तो थे। मैं तो तुम्हारी स्वीकारोक्ति सुन धन्य हो गया।" वह व्यक्ति बोला, "लेकिन तुम यह बात किसी दूसरे से न कहना, क्योंकि ये बातें मेरे और परमेश्वर के बीच की थीं। मैं तुम्हें सुनाना नहीं चाहता था।" फिर अकस्मात् कुछ नाराजगी से बोला, "लेकिन अगर तुमने यह बात किसी को बतायी तो मुझसे बुरा कोई न होगा।

टालस्टाय तो यह सुनकर दंग रह गये और बोले, "अरे, अभी-अभी तो तुम कह रहे थे कि........।" उनकी बात काटते हुए वह व्यक्ति बीच में ही बोल उठा, "हाँ, मगर मैंने जो कुछ कहा था, वह परमात्मा के लिए कहा था, दुनिया के लिए नहीं।"

टालस्टाय हैरान होकर सोचने लगे, "यह दुनिया कितनी मूर्ख है कि लोगों से डरती है, मगर भगवान से नहीं। जो आदमी लोगों के सामने अपनी सच्चाई प्रकट नहीं कर सकता, वह भला परमात्मा के समक्ष कैसे सच्चा हो सकता है?"

ध्यान करो—मन में, वन में
और घर के कोने में।

—श्रीरामकृष्ण

हो चुका अब खेल मेरा

स्वामी विवेकानन्द

('My play is done' शीर्षक अंग्रेजी कविता का
स्वामी आत्मानन्द कृत काव्यानुवाद)

काल की लहरों सहित मैं बह रहा,
डूबते नित और उतराते सदा
असत् जीवन की लहर के साथ मैं
जा रहा इस दृश्य से उस दृश्य में ।
इस अनन्त प्रमाद से उकता गया,
अब न उर उत्फुल्ल होता देखकर
दृश्य ये सब, नित्य बहते जा रहे,
दूर दिखता पर किनारा तक नहीं !
जन्म-जन्मों से रुका हूँ द्वार पर,
हाय ! पर खुलते नहीं वे आज तक ।
चिराकांक्षित रश्मि की ही खोज में
हो चले हैं नेत्र मेरे धुन्धले ।
तुंग, सकरे सेतु पर होकर खड़ा—
क्षुद्र जीवन के—अधः मैं देखता
विलपती, हँसती, फँसी संघर्ष में
चिलबिलाती भीड़ को । वह किसलिये ?
जान सकता है इसे कोई नहीं ।
सामने है द्वार रोके अन्धकार
कह रहा, "पथ और आगे है नहीं"
बस यहीं तक; भाग्य को फेरो नहीं,
सहो इसको—सहन जितना कर सको;
लौट उनसे जा मिलो, प्याला लिये—
पी उसे उनकी तरह पागल बनो ।

जानने की चाह जो रखता सही,
विपद-दुःख अनिवार्य है उसके लिये;
अतः आशा प्रगति की तुम छोड़कर,
जा मिलो, तुम बस उन्हीं से जा मिलो।"
पर कभी मैं, हाय! रुक सकता नहीं।
तैरता जल-बुलबुला-सा यह जगत्,
खोखला है नाम इसका, रूप भी,
खोखले हैं जन्म और मरण यहाँ,
ये सभी मेरे लिये कुछ भी नहीं।
चाहता हूँ चले जाना पार मैं,
नाम-रूप असार परदा भेदकर!
खोल दो अब, आह! द्वारों को जरा;
द्वार निश्चय खुलेंगे मेरे लिए।
द्वार अब उन्मुक्त कर आलोक का,
जननि! अपने क्लान्त बालक के लिए।
चाहता हूँ ओह! कितना चाहता—
यह विदेशी रूप छोड़ स्वदेश में
आह! फिर से लौट आने के लिए!
हो चुका अब खेल मेरा, अम्ब हे!
खेलने भेजा मुझे तुमने, जननि!
जिस समय था सर्व दिक् में अन्धकार
रूप भी था तुम्हारा अति भयजनक,
छूटकर आशा किया भय ने प्रवेश,
जान पर आने लगा वह खेल भी।
वासनाओं प्रबल औ' दुःख गहन के
गरजते औ' उमड़ते तूफान में
इस लहर से उस लहर बहता चला,

दुःख है औ' हर्ष 'होने का रहा',
छोड़ करके मृत्यु को जीवन चला,
हाय ! हो औ' मृत्यु--जाने कौन यह
हर्ष–दुःख के पुराने उस चक्र की
एक फिर से नई फेरी लग रही ?
देखते बच्चे जहाँ हैं सुनहरे
स्वप्न जो मिल जा रहे हैं त्वरित ही
धूल में, औ, पलटकर वे देखते
पूर्व–कब की नष्ट–आशा की तरफ,
जिन्दगी दिखती उन्हें टूटी हुई !
ज्ञान होता उस समय जब गिर रहा
जिन्दगी के नाट्य का परदा अखीर;
चक्र से हटते-न-हटते हमारे,
युवक अपनी जवानी के जोश में
दे सहारा चक्र को है ठेलते,
चल रहा है क्रम अभी तक इस तरह
दिन-ब-दिन औ' वर्ष कटते जा रहे,
यह खिलौना अजब-माया खेलती,
असत् आशा–प्राण इसका; नाभि है
मनोकांक्षा; दुःख-सुख इसके अरे।
जा रहा हूँ किस तरफ, दिखता नहीं,
जननि ! मुझको बचा लो इस ताप से !
वासना की इन तरंगों से मुझे
उठा लो अब शीघ्र ही, माँ दयामयि !
भयोत्पादक मुख न मोड़ो इस तरफ–
ओर मेरी–सह न सकता अब अधिक,

करो करुणा, जननि, मुझ पर, कृपाकर
भूल मेरी सहन कर लो—अम्ब हे !
ले चलो मुझको, तुम्हीं, उस तीर पर
वासनाएँ छू न सकती हैं जिसे;
सर्व दुःख के परे जो है, अश्रु के,
जागतिक-सुख के परे भी जो बसा,
सूर्य, शशि या चमकते तारे न औ'
चमक बिजली की न कर सकती प्रकाश—
किन्तु ये सब उसी से हैं भासते ।
स्वप्न मायावी पुनः ढाँके न अब,
हे जननि, मुझसे तुम्हारे रूप को ।
हो चुका अब खेल मेरा, अम्ब हे,
तोड़ मेरी शृंखलाओं को सकल
मुक्त कर दो, मुक्त कर दो अब मुझे !

○

स्वामी विवेकानन्द का सेवाधर्म

स्वामी विदेहात्मानन्द

अत्यन्त प्राचीन काल से ही यज्ञ, दान और सेवा हिन्दू धर्मजीवन का अविच्छेद्य अंग माना गया है। मनु-स्मृति में पंच-महायज्ञ की व्यवस्था दी गयी है, जिसके अनुसार ऋषयज्ञ, देवयज्ञ और पितृयज्ञ के साथ ही नर-सेवा और पशु-पक्षियों की भी प्रतिदिन सेवा को गृहस्थ का अनिवार्य कर्त्तव्य कहा गया है। गीता में भी भगवान कहते हैं कि ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेनेवाले ऋषिगण सर्व-भूतों के हित में निरत रहते हैं। महर्षि मनु के 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अवधारणा में मनुष्य तथा अन्य सभी जीव-धारियों को एक साथ लेकर एक समष्टि परिवार की परि-कल्पना है। वेद में इसी को 'विश्व-नीड़' कहा गया है। यह प्राचीन भारतीय 'सर्वात्मवाद' अर्वाचीन पाश्चात्य 'समाजवाद' की तुलना में श्रेष्ठतर तथा अधिकतर व्याव-हारिक जीवन-दर्शन है। हमारे विभिन्न धर्मग्रन्थों में यत्र-तत्र नर में नारायण की सेवा का विधान किया गया है। यथा—

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद् भस्मन्येव जुहोति सः।

(श्रीमद्भागवत—३।२९।२२)

—"मैं परमात्मा, सर्वभूतों में आत्मा के रूप में विराजित हूँ, इसे भूलकर जो अज्ञानवश प्रतिमा-पूजन में ही लगा रहता है, वह मानो (अग्नि को छोड़) राख में ही हवन करता है।"

मामतः सर्वभूतेषु परिच्छिन्नेषु संस्थितम्।
एकं ज्ञानेन मानेन मैत्र्या चार्चेदभिन्नधीः।।

(अध्यात्म रामायण—उत्तरकाण्ड ७।७८)

—"अतः मुझ परमात्मा को सर्वभूतों में प्रच्छन्न रूप से विद्यमान जानकर, स्वयं से अभिन्न समझकर, ज्ञान, मान और मैत्री के द्वारा मेरा पूजन करना चाहिए।"

ऐसे असंख्य उद्धरण दिए जा सकते हैं, जिनमें नर को ईश्वर का ही प्रतिरूप कहा गया है; परन्तु हम हिन्दू इस महत् आदर्श को कार्यरूप में परिणत करने में क्रमशः अक्षम होते गये। हमारे समाज में धीरे-धीरे समष्टिवाद के स्थान पर व्यष्टिवाद का प्राबल्य हो गया; जातिभेद, ऊँच-नीच और छुआछूत की बीमारी फैल गयी; 'त्याग-सेवा' के द्विविध आदर्श के स्थान पर 'स्वार्थ-विशेषाधिकार' की प्रतिष्ठा हो गयी और हम हिन्दू अपनी जीवनी-शक्ति खो बैठे। इसके परिणामस्वरूप हमारा समाज दुर्बल, विशृंखलित और असंगठित होकर विदेशी एवं विधर्मी आक्रांताओं के हाथ पराजित होने लगा। हिन्दू जाति के पुनरुद्धार हेतु इस सेवा एवं साम्य धर्म के पुनः प्रतिष्ठा की आवश्यकता थी। १७ फरवरी १८३६ ई. के दिन श्रीरामकृष्ण का आविर्भाव हुआ और इसके साथ ही विश्व-इतिहास के एक अभिनव युग का भी सूत्रपात हुआ। इस नवयुग के प्रवर्तक थे श्रीरामकृष्ण और नायक थे स्वामी विवेकानन्द।

हुगली जिले के कामारपुकुर नामक एक छोटे से ग्राम में श्रीरामकृष्ण का जन्म हुआ था। बाल्यकाल से ही उन्हें अर्थकरी विद्या के अर्जन में रुचि न थी। परन्तु रामायण, महाभारत, भागवत आदि ग्रन्थों का पाठ एवं व्याख्या वे भलीभाँति कर लेते थे। धार्मिक गीतनाट्यों का अभिनय

कर वे ग्रामवासियों को मंत्रमुग्ध कर देते थे। बड़े भाई रामकुमार अपनी संस्कृत पाठशाला में सहायता करने को उन्हें कलकत्ता ले आये। फिर रानी रासमणि द्वारा दक्षिणेश्वर में काली-मन्दिर की प्रतिष्ठा हो जाने पर रामकुमार वहाँ के प्रधान-पूजक नियुक्त हुए। धीरे-धीरे श्रीरामकृष्ण भी वहीं आकर निवास करने लगे और यथा काल उन्होंने भवतारिणी काली के पूजन का कार्यभार स्वीकार कर लिया। उनकी आन्तरिक व्याकुलता तथा तीव्र साधना के फलस्वरूप जगदम्बा ने दर्शन देकर उन्हें कृतार्थ किया। तदुपरान्त उन्होंने माँ के निर्देशानसार बात्स्य, सख्य, दास्य, मधुर आदि भावों की तथा तन्त्र, वेदान्त, इस्लाम, ईसाई आदि मतों की साधना की। सभी तरह की साधनाओं के द्वारा सिद्धिरूप उन्हें एक ही तरह की अनभूतियाँ हुई और वे इस सिद्धान्त पर पहुँचे कि 'जितने मत हैं, उतने ही पथ हैं'।

अपने साधना-काल में एक बार श्रीरामकृष्ण ने मन्दिर के भंगी से कहा कि मैं आकर तुम्हारा घर साफ करना चाहता हूँ। परन्तु एक श्रेष्ठ ब्राह्मण और काली मन्दिर के प्रतिष्ठित पुजारी को वह भला ऐसी अनुमति कैसे दे सकता था! अतः उसने भयपूर्वक अस्वीकार कर दिया। निदान, श्रीरामकृष्ण एक दिन आधी रात को उठकर मेहतर के घर गये और उसका शौचालय साफ कर दिया। तत्पश्चात् उन्होंने अपने लम्बे बालों से उसका घर झाड़ डाला। ऐसा वे कई दिनों तक करते रहे। इस प्रकार उन्होंने अपना अहंकार दूर किया और और हीन से हीन लोगों के भीतर भी सर्वव्यापी ईश्वर की अभिव्यक्ति देख कर आत्मभाव से उनकी सेवा की।

१८६८ ई में श्रीरामकृष्ण काशी, प्रयाग, मथुरा और वृन्दावन की तीर्थयात्रा को गये । उनके अनुगत भक्त मथुरमोहन विश्वास भी अपने शताधिक सगे-सम्बन्धियों, मित्रों तथा नौकर-चाकरों के साथ उनके सहयात्री हुए । कलकत्ता से चलकर वे लोग सर्वप्रथम वैद्यनाथ शिव के दर्शन तथा पूजन के निमित्त कुछ दिन देवघर में ठहरे । वहाँ पर एक दिन वे एक गाँव के पास से होकर जा रहे थे कि श्रीरामकृष्ण की दृष्टि ग्रामवासियों पर पड़ी । उन लोगों की दु:ख-दुर्दशा तथा अभावग्रस्त जीवन देखकर उनका हृदय करुणा से अभिभूत हो उठा और वे मथुर से बोले, "देखो, तुम तो जगदम्बा के दीवान हो । इन्हें सिर पर लगाने को तेल, एक-एक धोती और भरपेट भोजन दो ।" मथुर बाबू को बात जँची नहीं । वे हीला-हवाली करते हुए कहने लगे, "बाबा, तीर्थयात्रा में काफी खर्च लगेगा और उन लोगों की संख्या भी काफ़ी अधिक दीख पड़ती है । अत: इन्हें खिलाने-पहराने से हमें रास्ते में पैसों की तंगी हो सकती है । ऐसी हालत में आप क्या कहते हैं ?" परन्तु श्रीरामकृष्ण भला कहाँ इन सब बातों का सोच-विचार करने वाले थे । ग्रामवासियों का कष्ट देखकर उनके हृदय में अपूर्व करुणा उमड़ आयी थी, नेत्रों से अनवरत आँसू बह रहे थे । वे उन्हीं दीन-हीन लोगों के बीच जाकर बैठ गये और हठ करते हुए बोले, "जाओ मैं तुम्हारी काशी को नहीं जाता । मैं इन्हीं लोगों के साथ रहूंगा । इनके कोई नहीं है, मैं इन्हें छोड़कर नहीं जाता ।" और कोई चारा न देख मथुर बाबू सहमत हुए और तुरन्त ही कलकत्ते से वस्त्रादि मँगवाकर श्रीरामकृष्ण की इच्छा-नुसार यह सेवा कार्य सम्पन्न किया । ग्रामवासियों का

उल्लास देखकर श्रीरामकृष्ण ने अपने अन्तर में अपूर्व सन्तोष अनुभव किया और आनन्दपूर्वक वाराणसी की यात्रा की ।

श्रीरामकृष्ण ने यह सेवा-अनुष्ठान क्या मात्र दया से अभिभूत होकर किया था ? एक बार उन्होंने कहा था—"वे (ईश्वर) ही आदमी बनकर खेल रहे हैं। मिट्टी की मूर्ति में तो उनकी पूजा होती है और मनुष्यों में नहीं हो सकती ?" फिर एक अन्य समय भी उन्होंने कहा—"अच्छा, बताओ तो, लोगों को खिलाना एक तरह से उन्हीं (ईश्वर) की सेवा नहीं है ? सब जीवों के भीतर वे अग्नि के रूप में विद्यमान हैं; खिलाना अर्थात् उनमें आहुति देना।" अतः हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीरामकृष्ण को उन दरिद्र ग्रामवासियों में साक्षात् नारायण की प्रतीति हुई थी और उन्होंने भोजन-वस्त्र आदि उपचारों के साथ उनके पूजन की योजना की थी । यह बात उन्हीं के जीवन की एक अन्य घटना से स्पष्ट हो जाती है, जबकि उन्होंने नरेन्द्रनाथ अर्थात् भावी विवेकानन्द को इस सेवा-धर्म में दीक्षित किया ।

१८८४ ई. का एक दिन । दक्षिणेश्वर मन्दिर के सुविस्तृत प्रांगण में स्थित अपने कमरे में श्रीरामकृष्ण अन्तरंग भक्तों से घिरे सहज भाव से बैठे हैं । हास-परिहास के साथ ही साथ धर्मचर्चा चल रही है । वैष्णव धर्म का प्रसंग उठा । श्रीरामकृष्ण कहने लगे, "इस मत में तीन साधनाओं पर विशेष बल दिया गया है—भगवन्नाम में रुचि, भगवद्भक्तों की सेवा और सर्वभूतों पर दया ।" भूतदया

की व्याख्या करते-करते श्रीरामकृष्ण समाधि में डूब गये । भक्तगण उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करते रहे । कुछ काल बाद उनकी बाह्य चेतना लौटी और वे अर्धबाह्य दशा में बुदबुदाने लगे, 'जीवों पर दया ! धत् तेरे की ! धरती पर रेंगनेवाला किटानुकीट होकर भी तू दया दिखाएगा ? दया दिखाने वाला तू कौन होता है ? नहीं, दया नहीं, शिवज्ञान से जीवसेवा !"

मन्त्रमुग्ध भक्तों ने श्रीरामकृष्ण की ये बातें सुनी, पर इनका सच्चा मर्म एक नरेन्द्रनाथ को छोड़ और किसी को भी समझ में नहीं आया । बाद में कमरे से बाहर आकर उन्होंने अपने अन्य युवा मित्रों को बताया, "ठाकुर की आज की बातों में कैसा अद्भुत आलोक मिला ! जिस वेदान्त को लोग शुष्क, कठोर और निर्मम ज्ञान मात्र समझते हैं, उसे उन्होंने भक्ति के साथ समन्वित करके आज उसका कैसा सहज, सरल और मधुर रूप दिखाया ।....आज मैं जान गया कि वन का वेदान्त घर में लाया जा सकता है, जगत् के सभी कार्यों में उसका उपयोग किया जा सकता है । मनुष्य पहले अपने अन्तर में यह जान ले कि ईश्वर ही जीव-जगत् होकर उसके सम्मुख विराजमान हैं, उसके बाद उसकी जो इच्छा करे । जीवन में प्रतिक्षण वह जिन लोगों के सम्पर्क में आता है, जिन्हें भी प्यार करता है, जिनके प्रति श्रद्धा सम्मान और दया का भाव रखता है, वे सभी ईश्वर के अंश है, साक्षात् प्रभु ही हैं—यह जान ले । ....इस प्रकार शिव भाव से सर्वजीवों की सेवा करने से अल्पकाल में ही उसकी चित्तशुद्धि हो जाएगी और वह अपने आप को शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा—चिदानन्दमय ईश्वर के अंश के रूप में अनुभूति कर सकेगा ।....भक्ति-

मार्गी भी शिव या नारायण ज्ञान से जीव मात्र की सेवा करके, उन्हें सभी में व्याप्त देखकर शीघ्र ही भक्तिलाभ कर कृतकृत्य हो सकेगा।" फिर अन्त में वे बोले, "यदि प्रभु ने कभी अवसर दिया तो आज मैंने जो कुछ सुना है, उस अद्भुत सत्य का विश्व भर में प्रचार करूँगा, पण्डित-मूर्ख, धनी-दरिद्र, ब्राह्मण-चाण्डाल सभी को सुनाकर मुग्ध करूँगा।

इस घटना के कोई बारह वर्ष बाद ईश्वर ने नरेन्द्रनाथ को यह सिद्धान्त सम्पूर्ण जगत् में प्रचार करने का अवसर दिया। स्वामी विवेकानन्द के रूप में पाश्चात्य देशों में भारतीय धर्म एवं संस्कृति के यथार्थ स्वरूप का निरूपण करने के पश्चात्, १८९७ ई. में जब वे स्वदेश लौटे, तो उन्होंने पाया कि सारा भारत उनके स्वागत में आँखें बिछाए प्रतीक्षमान है, उनके उपदेश सुनने को उत्सुक है। उस समय कोलम्बो से अल्मोड़ा तक यात्रा करते हुए उन्होंने जो व्याख्यान दिए उनमें इस सन्देश की प्रतिध्वनि बारम्बार कर्णगोचर होती है।

भारत में पदार्पण करने के कुछ दिनों बाद ही जब वे रामेश्वरम् के सुप्रसिद्ध शिव मन्दिर में दर्शन करने आये तो वहाँ समवेत लोगों के अनुरोध पर उन्होंने 'यथार्थ पूजा' के बारे में अपने विचार व्यक्त किये, जिन्हें अब शिलाओं पर उत्कीर्ण कराकर वहाँ स्थापित कर दिया गया है। वहाँ उन्होंने कहा था––"वह मनुष्य जो शिव को निर्धन, दुर्बल और रुग्ण व्यक्ति में भी देखता है, वस्तुतः वही शिव की उपासना करता है; परन्तु यदि वह उन्हें केवल मूर्ति में ही

देखता है, तो कहा जा सकता है कि उसकी उपासना अभी नितान्त प्रारम्भिक है। एक निर्धन मनुष्य के भीतर यह सोचकर कि उसमें साक्षात् शिव विराजमान हैं, जाति-पाँति अथवा ऊँच-नीच का कोई भेदभाव किये बिना, यदि उसकी सेवा-शुश्रूषा की जाय, तो केवल मन्दिर में उन्हें देखने वाले की अपेक्षा शिव उस पर कहीं अधिक प्रसन्न होंगे। ....जो शिव की सेवा करना चाहता है, उसे पहले उनके सन्तानों की—विश्व के प्राणिमात्र की सेवा करनी चाहिए।....इसी श्रेष्ठ कर्म की शक्ति से तुम्हारा चित्त शुद्ध हो जायगा और तब प्रत्येक हृदय में निवास करने वाले शिव प्रकट हो जाएँगे।"

तदुपरान्त मद्रास में अपने एक व्याख्यान के दौरान उन्होंने कहा—"तुम किसी की सहायता नहीं कर सकते, तुम्हें केवल सेवा करने का अधिकार है।... केवल ईश्वर-पूजा के भाव से सेवा करो। दरिद्र व्यक्तियों में हमें भगवान को देखना चाहिए, अपनी ही मुक्ति के लिए हमें उनके निकट जाकर उनकी पूजा करनी चाहिए। दुखी और कंगाल प्राणी हमारी मुक्ति के साधन हैं, ताकि रोगी, पागल, कोढ़ी, पापी आदि रूपों में विचरते हुए प्रभु की सेवा करके हम अपना उद्धार कर सकें। मेरे शब्द बड़े गम्भीर हैं और मैं उन्हें फिर दुहराता हूँ—हम लोगों के जीवन का सर्वश्रेष्ठ सौभाग्य यही है कि हम इन भिन्न-भिन्न रूपों में विराजमान भगवान की सेवा कर सकते हैं। प्रभुत्व से किसी का कल्याण कर पाने की धारणा त्याग दो।"

वे कहते हैं—"ऊँचे स्थान पर खड़े हो, हाथ में दो पैसे लेकर यह न कहो, 'ऐ भिखारी, यह ले', वरन् कृतज्ञ होओ कि वह बेचारा वहाँ है, जिसे दान देकर तुम अपनी ही

सहायता करने का अवसर पाते हो। सौभाग्य दान लेने वाले का नहीं, वरन् दान देने वाले का है।"

'भारत का भविष्य' व्याख्यान में वे बोले--"सबसे पहले उस विराट् की पूजा करो, जिसे तुम अपने चारों ओर देख रहे हो—'उसकी' पूजा करो। 'वर्शिप' ही इस संस्कृत शब्द का ठीक समानार्थक है, अंग्रेजी के किसी अन्य शब्द से काम नहीं चलेगा। ये मनुष्य और पशु, जिन्हें हम आस-पास और आगे-पीछे देख रहे हैं, ये ही हमारे ईश्वर हैं। इनमें सबसे पूज्य हैं हमारे अपने देशवासी। परस्पर ईर्ष्या-द्वेष करने और झगड़ने के बजाय हमें उनकी पूजा करनी चाहिए।"

लाहौर में 'भक्ति' की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा—"भक्तों के लिए जो उपासना पद्धतियाँ हैं, उनमें मनुष्य रूप की उपासना ही सबसे उत्तम है। यदि वास्तव में किसी रूप की पूजा करनी है, तो अपनी हैसियत के अनुसार प्रति दिन छः या बारह दरिद्रों को अपने घर लाकर, उन्हें नारायण समझकर उनकी सेवा करना अच्छा है। . . . मेरे मत में यदि इस प्रकार की नयी पूजा-पद्धति प्रचलित की जाय, तो बड़ा अच्छा हो—कुछ दरिद्र-नारायण, अन्धनारायण या क्षुधार्तनारायण को प्रतिदिन घर में लाना एवं प्रतिमा की जिस प्रकार पूजा की जाती है, उसी प्रकार उनकी भी भोजन-वस्त्रादि के द्वारा पूजा करना। मैं किसी प्रकार की उपासना या पूजा-पद्धति की न तो निन्दा करता हूँ और न किसी को बुरा बताता हूँ; मेरे कहने का सारांश यह है कि इस प्रकार की नारायण-पूजा सर्वापेक्षा श्रेष्ठ पूजा है, और भारत के लिए इसी पूजा की सबसे अधिक आवश्यकता है।"

यद्यपि भारत के सन्दर्भ में इस सेवा-पूजा की विशेष आवश्यकता थी, पर स्वामीजी ने विदेशों में भी इस तत्त्व का प्रतिपादन किया। लन्दन में वेदान्त का व्यावहारिक पक्ष समझाते हुए उन्होंने कहा—"यदि ईश्वरोपासना के लिए प्रतिमा की ही जरूरत हो, तो उससे कहीं श्रेष्ठ मानव-प्रतिमा मौजूद ही है। यदि ईश्वरोपासना के लिए मन्दिर निर्माण करना चाहते हो, तो करो, किन्तु सोच लो कि उससे भी उच्चतर, उससे भी महान् मानव देह रूपी मन्दिर तो पहले से ही मौजूद है।...मनुष्य देह में प्रतिष्ठित मानवता ही एकमात्र उपास्य ईश्वर है। पशु भी भगवान के मन्दिर हैं, पर मानव-देह सर्वश्रेष्ठ है—मन्दिरों में ताजमहल जैसा है। यदि मैं उसमें भगवान की पूजा न कर सकूँ, तो अन्य किसी भी मन्दिर से मेरा कुछ भी उपकार न होगा।"

व्याख्यानों के अतिरिक्त स्वामीजी ने अपने गुरु-भाइयों तथा शिष्यों को पत्र लिखकर भी उनमें यह भाव संक्रमित करने का प्रयास किया। ऐसे कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं—

"तुमने पढ़ा है--मातृदेवो भव, पितृदेवो भव--'अपनी माता को ईश्वर समझो, अपने पिता को ईश्वर समझो'—परन्तु मैं कहता हूँ--दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव—गरीब, निरक्षर, मूर्ख और दुखी, इन्हें अपना ईश्वर मानो। इनकी सेवा करना ही परम धर्म समझो।"

"मैं उसी को महात्मा कहता हूँ, जिसका हृदय गरीबों के लिए रोता है, अन्यथा वह दुरात्मा है।"

"ये ही तुम्हारे ईश्वर हैं, ये ही तुम्हारे इष्ट बनें। निरन्तर इन्हीं के लिए सोचो, इन्हीं के लिए काम करो,

इन्हीं के लिए निरन्तर प्रार्थना करो—प्रभु तुम्हारा मार्गदर्शन करेंगे ।"

"जो धर्म गरीबों का दु:ख नहीं मिटाता, मनुष्य को देवता नहीं बनाता, वह भी क्या धर्म है ?"

"मुझे इस बात पर विश्वास नहीं है कि जो भगवान मुझे यहाँ पर रोटी नहीं दे सकता है, वही स्वर्ग में मुझे अनन्त सुख प्रदान करेगा। राम कहो ! भारत को उठाना होगा, गरीबों को भोजन देना होगा, शिक्षा का विस्तार करना होगा और पुरोहित-प्रपंच की बुराइयों तथा सामाजिक अत्याचारों का नामो-निशान न रहे।"

"मेरी ऐसे ईश्वर या धर्म में श्रद्धा नहीं है जो विधवाओं के आँसू नहीं पोंछ सकता, अनाथों के मुख में रोटी का एक टुकड़ा नहीं पहुँचा सकता ।"

❁

भारत लौटकर स्वामीजी स्वयं भी अपने अनुयाइयों को साथ लेकर दीन-दुखियों की सेवा तथा अकाल-महामारी से ग्रस्त लोगों को राहत पहुँचाने के कार्य में लग गये। अपने गुरुभाइयों तथा शिष्यों को विविध अंचलों में भेजकर उन्होंने सेवाकेन्द्र खोले। इस बृहत् सेवा-यज्ञ का खर्च चलाने को अर्थाभाव होने पर वे सद्य:क्रीत बेलुड़ मठ की भूमि बेचने को भी तैयार थे। इस प्रकार उन्होंने हिन्दू जनमानस में एक अभिनव आन्दोलन का सूत्रपात किया। काफ़ी काल बाद हिन्दू समाज को अपने दुखी एवं पीड़ित भाइयों के प्रति सहानुभूति तथा सेवा का सबक सीखने को मिला और वह भी केवल सैद्धान्तिक रूप में नहीं, अपितु प्रत्यक्ष उदाहरण के साथ। इन्हीं दिनों स्वामीजी ने निवे-

दिता के नाम अपने एक पत्र में लिखा—"दुर्भिक्षग्रस्त लोगों के लिए भोजन की व्यवस्था करने में ही मेरी शक्ति एवं पूंजी समाप्त होती जा रही है। यद्यपि अब तक अत्यन्त सामान्य रूप से ही मुझे कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ है, फिर भी आशातीत परिणाम दिखायी दे रहा है। बुद्धदेव के बाद से यह पहली बार देखने को मिल रहा है कि ब्राह्मण सन्तानें हैजाग्रस्त अन्त्यजों की शय्या के निकट उनकी सेवा-शुश्रूषा में संलग्न हैं।"

तत्पश्चात् वे मेरी हेल को लिखते हैं—"केवल एक ही चिन्ता मेरे मस्तिष्क में दहक रही थी—वह यह कि भारतीय जनता को ऊपर उठाने वाले यंत्र को चालू कर दूँ और इस काम में मैं किसी हद तक सफल हो सका हूँ। तुम्हारा हृदय यह देखकर आनन्द से उत्फुल्ल हो जाता कि किस तरह मेरे लड़के दुर्भिक्ष, रोग और दुःख-दर्द के बीच काम कर रहे हैं—हैजे से पीड़ित पैरिया की चटाई के पास बैठे उसकी सेवा कर रहे हैं, भूखे चाण्डाल को खिला रहे हैं—और प्रभु मेरी तथा उन सब की सहायता कर रहे हैं।...मेरी अभिलाषा है कि मैं बार बार जन्म लूँ और हजारों दुःख भोगता रहूँ, ताकि मैं समस्त आत्माओं के समष्टिरूप उस एकमात्र ईश्वर की पूजा कर सकूं, जिसकी सचमुच सत्ता है और जिसका मुझे विश्वास है। सर्वोपरि, सभी जातियों और वर्णों के पापी, तापी और दरिद्र रूपी ईश्वर ही मेरा विशेष उपास्य है।"

स्वामीजी के इस सेवा-यज्ञ की पूर्णाहुति जिस घटना के साथ हुई, वह जैसी रोचक है वैसी ही शिक्षाप्रद भी है। बिहार के कुछ संथाल आदिवासी मजदूर बेलुड़ मठ की

भूमि को समतल करने प्रति वर्ष वहाँ आया करते थे। स्वामीजी उन लोगों के साथ हँसी-ठिठोली करते और उनके सुख-दुःख की बातें सुना करते। अपनी महासमाधि के कोई छह महीने पूर्व एक दिन स्वामीजी ने उन सभी संथाल लोगों को भोजन के लिए निमन्त्रित किया। उनके लिए मठ में पुरी, तरकारी, मिठाई, दही आदि का प्रबन्ध किया गया और स्वामीजी स्वयं ही उन्हें बिठाकर खिलाने लगे। खाते खाते उस टोली का मुखिया केष्टा कहने लगा, "हाँ रे, स्वामी बाप, तुमने ऐसी चीज़ कहाँ से पायी—हम लोगों ने ऐसा कभी नहीं खाया।" स्वामीजी ने उन्हें तृप्ति भर भोजन कराकर कहा, "तुम लोग तो नारायण हो—आज मैंने नारायण को भोग दिया।"

फिर गुरुभाइयों तथा शिष्यों की ओर उन्मुख होकर वे बोले—"इन्हें देखा मानो साक्षात् नारायण हैं—ऐसा सरल चित्त—ऐसा निष्कपट सच्चा प्रेम कभी नहीं देखा था। इनका दुःख थोड़ा बहुत दूर कर सकोगे? इन्हें कभी अच्छी चीजें खाने को नहीं मिली। मन में आता है—मठ आदि सब बेच दूँ, इन सब गरीब-दुःखी दरिद्रनारायणों में बाँट दूँ। हाय! देश के लोग पेट भर भोजन भी नहीं पा रहे हैं, फिर हम किस मुँह से अन्न खाते हैं? उस देश में जब गया था तो जगदम्बा से कहा, 'माँ! यहाँ के लोग फूलों की सेज पर सो रहे हैं, तरह तरह के खाद्य-पेयों का उपभोग कर रहे हैं, इन्होंने कौन सा भोग बाकी रखा है! और हमारे देश के लोग भूखों मर रहे हैं। माँ, इनके उद्धार का कोई उपाय न होगा?' उस देश में धर्म-प्रचारार्थ जाने का मेरा एक यह भी उद्देश्य था कि मैं इस देश के लिए अन्न का प्रबन्ध कर सकूँ।

"कभी कभी मन में आता है...हम सब मिलकर गाँव गाँव में घूमकर चरित्र और साधना के बल पर, धनिकों को समझाकर, धन संग्रह करके ले आयें और दरिद्रनारायण की सेवा करते हुए जीवन बिता दें। देश इन गरीब-दुखियों के लिए कुछ नहीं सोचता है रे! जो लोग हमारे राष्ट्र की रीढ़ हैं, जिनके परिश्रम से अन्न पैदा हो रहा है, जिन मेहतर डोमों के एक दिन के लिए भी काम बन्द कर देने पर शहर भर में हाहाकार मच जाता है—हाय! हम क्यों न उनके साथ सहानुभूति करें, सुख-दुःख में उन्हें सान्त्वना दें! क्या देश में कोई भी नहीं है रे! देखो न—हिन्दुओं की सहानुभूति के अभाव में मद्रास अंचल के हजारों पैरिया ईसाई बने जा रहे हैं, पर ऐसा न समझना कि केवल पेट के लिए वे ईसाई बनते हैं। असल में हमारी सहानुभूति न पाने के कारण वे ईसाई बनते हैं।... इन लोगों के बिना उठे माँ नहीं जागेगी। हम यदि इनके लिए अन्न-वस्त्र की सुविधा न कर सके, तो फिर हमने क्या किया? हाय! ये लोग दुनियादारी कुछ भी नहीं जानते, इसीलिए तो दिन-रात परिश्रम करके भी अन्न-वस्त्र का प्रबन्ध नहीं कर पाते। आओ, हम सब मिलकर इनकी आँखें खोल दें—मैं दिव्य दृष्टि से देख रहा हूँ, इनके और मेरे भीतर एक ही ब्रह्म—एक ही शक्ति विद्यमान है, केवल विकास की न्यूनाधिकता है। सभी अंगों में रक्त का संचार हुए बिना किसी भी देश को कभी उठते देखा है? एक अंग के दुर्बल हो जाने पर, दूसरे अंग सबल हों तो भी उस देह में कोई बड़ा काम नहीं होता, इस बात को निश्चित जान लेना।"

ये बातें कहते हुए स्वामीजी गहन चिन्तन में डूब गये। थोड़े समय बाद वे बोले—"इतनी तपस्या करके मैंने यही सार समझा है कि जीव जीव में वे अधिष्ठित हैं; इसके अतिरिक्त ईश्वर और कुछ भी नहीं है। जो जीवों से प्रेम करता है, वही व्यक्ति ईश्वर की सेवा कर रहा है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि परोपकार, सेवा, दान तथा समभाव की धारा जो हिन्दू धर्मभूमि से लुप्तप्राय हो गयी थी, स्वामी विवेकानन्द ने उसे पुनः प्रवाहित किया। सेवा-धर्म के अपने आदर्श को मूर्तरूप प्रदान करने के लिए उन्होंने रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन नामक युग्म संस्थाओं की स्थापना की, जो विगत एक शताब्दी से अब तक राष्ट्र के सभी अंचलों में बिखरे अपने शताधिक शाखाओं के माध्यम से, अभावग्रस्त एवं पीड़ित मानवता की भेदभावरहित सेवा में तत्पर हैं और इस प्रकार सम्पूर्ण हिन्दू-जाति के लिए एक दिशा-निर्देश का कार्य कर रही हैं। स्वामीजी द्वारा परिकल्पित 'दरिद्रनारायण' का भाव उनके बाद लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी तथा अन्य अनेक जननायकों एवं जन-सेवकों ने अपनाया और जनता-जनार्दन, हरिजन आदि संज्ञाओं की रचना हुई। स्वाधीनता के पश्चात् भारत सरकार ने भी जनकल्याण और पिछड़े वर्गों की उन्नति को अपना एक प्रमुख लक्ष्य माना है। आज के भारत में सहस्रों संस्थाएँ तथा लाखों लोग सेवा के कार्य में लगे हुए हैं। स्वामीजी का सपना धीरे-धीरे साकार हो रहा

है। समग्र हिन्दू समाज जितना ही शीघ्र उनका यह 'दरिद्रनारायण-पूजा' अर्थात् 'शिवज्ञान से जीवसेवा' का भाव अपना लेगा उतना ही शीघ्र हमारा विशाल राष्ट्र संगठित, समन्वित, शक्तिमान् और महान् होकर विश्व के अग्रणी राष्ट्रों की पंक्ति में अपने योग्य स्थान का अधिकारी होगा।

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(भगवान श्रीरामकृष्ण के एक प्रमुख शिष्य स्वामी तुरीयानन्द को स्वामी विवेकानन्द अपने साथ अमेरिका ले गये थे। वहाँ से लौटने के बाद से उन्होंने अपना अधिकांश जीवन तपस्या में ही बिताया। बँगला और अंग्रेजी में उनके लगभग ३०० पत्र उपलब्ध है, जो बड़े ही ज्ञानगर्भित, प्रेरणास्पद तथा साधकोपयोगी हैं, उन्हीं में से चुने हुए अंशों के अनुवाद 'विवेक-ज्योति' में क्रमश: प्रकाशित किये जा रहे हैं। —स.)

—१२—

तुमने अपनी अवस्था के सम्बन्ध में जो लिखा है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि तुमने अपना रोग ठीक-ठीक पहचान लिया है। यह बात केवल तुम्हीं पर लागू होती हो, ऐसा नहीं। यह सब के लिए सत्य है। तंग दायरा बनाकर हम स्वयं अपनी प्रगति का पथ अवरुद्ध कर लेते हैं। दायरे की आवश्यकता नहीं है, ऐसा मैं नहीं कहता। तो भी यह जान लेना आवश्यक है कि कब उसकी जरूरत है और कब नहीं—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

जिसको एक समय प्रयत्न करके लाना पड़ता है, उसी को समय बीत जाने पर त्यागना भी आवश्यक हो जाता है। अवस्था में परिवर्तन के साथ व्यवस्था में भी परिवर्तन लाना पड़ता है। परन्तु यह सही है कि इसका निर्णय करना बड़ा कठिन है। तथापि यह निश्चित है कि प्रभु के हाथ

---

* जो मुनि समत्वबुद्धिरूप योगावस्था में आरोहण करने को इच्छुक हैं, उनके लिए कर्म ही उपाय कहा गया है; और जो योगावस्था में आरूढ़ हो चुके हैं, उनके लिए शम अर्थात् कर्मत्याग को उपाय बताया गया है। (गीता ६/३)

में सारा भार सौंपकर निश्चिन्त हो जाने पर किसी के लिए अनुताप नहीं करना पड़ता। प्रभु की कृपा से सब ठीक हो जाएगा, चिन्ता की कोई बात नहीं। भगवत्-शरणम्, भगवत्-शरणम्।

—१३—

तुम्हें सत्संग नहीं मिल पा रहा है यह अवश्य दुःख की बात है, परन्तु उपाय ही क्या है? तुम्हारे हृदय में जो 'पावनं पावनानाम्' निवास कर रहे हैं, अब उन्हीं के प्रति अधिकाधिक आकर्षण बढ़ाने का प्रयास करना। वे ही सारी व्यवस्था कर देंगे।

तुम गाँव में जाकर कैसे हो? नाते-रिश्तेदार तुम्हारे बारे में क्या सोचते हैं और तुम्हें वहाँ कैसा लग रहा है? उनके साथ सद्व्यवहार करने में भूल न करना, अन्यथा सेवाधर्म विफल हो जाएगा। सर्व भूतों में प्रभु ही विराजमान हैं यह बोध ही जीवन का प्रधान लक्ष्य है।

—१४—

तुम्हारा मानसिक उद्वेग 'एक बड़ी समस्या' है, यह पढ़कर मेरे मन में एक साथ ही विस्मय और करुणा का संचार हुआ। विस्मय इस बात पर कि माता-पिता को जो महागुरु कहा गया है यह भी भला प्रश्न करके जानने की बात है! और दुःख या करुणा के उद्रेक का कारण यह है कि हिन्दू कुल में जन्म लेकर प्रतिदिन अगणित लोग—

पिता स्वर्गः पिता धर्म, पिता हि परमं तपः।
पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः॥*

* पिता ही स्वर्ग हैं, पिता ही धर्म हैं और पिता ही परम तप हैं। पिता की प्रसन्नता में ही सभी देवताओं की प्रसन्नता निहित है। (महाभारत, शान्तिपर्व २६६/२१)

——इसका उच्चारण करते हुए अपने माता-पिता के निमित्त जलदान करते रहे हैं, यह जानते हुए भी तुम उन्हें राह चलते लोगों के समकक्ष अनुभव कर रहे हो ! हाय हमारी कैसी आध्यात्मिक अवनति हो गयी है ! !

तुमने सहज-बुद्धि का उल्लेख किया है । सहज-बुद्धि की अपेक्षा मानव में थोड़ी विशेष बुद्धि है और इसी वजह से वह पशु की तुलना में श्रेष्ठ है——

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः ॥†

माता-पिता द्वारा देह प्राप्ति और ममता के वशीभूत होकर संतति का यन्त्रवत् लालन-पालन पशुओं में ही विशेष रूप से दीख पड़ता है, पर मनुष्य की बात अलग है । तुमने जो लिखा है कि उनके प्रतिदानस्वरूप उनकी सेवा करना हमारा कर्तव्य है, निश्चय ही यह बुद्धि पशुओं में नहीं है । इसीलिए पशुओं के बच्चे जब स्वयं ही अपना आहार आदि जुटाना सीख लेते हैं तो माता-पिता के साथ उनका सम्बन्ध पूर्णरूपेण विच्छिन्न हो जाता है, परन्तु मनुष्य के साथ ऐसी बात नहीं है । पशुओं में शिक्षा होती है सिर्फ खाकर अपना जीवन बचाये रखने तक; परन्तु मनुष्यों में आजीवन और यही नहीं, परलोक तक के लिए शिक्षा की व्यवस्था है । यह परलोक का ज्ञान ही मानव को पितृभक्त और पुत्रवत्सल बनाता

† आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन——ये पशुओं और मनुष्यों में समान रूप से पाये जाते हैं । ज्ञान मनुष्यों में ही विशेष रूप से दीख पड़ता है । ज्ञानहीन मानव पशुतुल्य है । (हितोपदेश)

है। परमपिता परमेश्वर ने हमें परलोक का ज्ञान देने तथा शास्त्रबुद्धिसम्पन्न करने के लिए ही वेद आदि की सृष्टि की है। मनुष्य के लिए ही शास्त्र हैं और पशु के लिए है सहज-बुद्धि। अतः हमें मनुष्य बनने के लिए शास्त्रबुद्धिसम्पन्न होना होगा, केवल सहज-बुद्धि से काम नहीं चलेगा। गीता में भगवान कहते हैं--

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥*

हाँ, यह बात जरूर है कि सभी शास्त्रज्ञ नहीं हो सकते; इसीलिए शास्त्रज्ञ गुरुजनों में श्रद्धा-विश्वास रखना आवश्यक है। यह श्रद्धा उत्पन्न होने पर अनायास ही शास्त्रफल का लाभ हो जाता है। निःसन्देह श्रद्धा-भक्ति ईश्वर की देन है, परन्तु साधुसंग एवं सेवा के द्वारा भी इसकी उपलब्धि की जा सकती है। भगवान स्वयं यही बात कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥†

---

* जो व्यक्ति शास्त्र के उपदेशों की उपेक्षा कर यथेच्छा कर्म करता है, उसे न तो सिद्धि, न सुख और न उत्तम गति की ही प्राप्ति होती है। अतः क्या करणीय है और क्या अकरणीय इसका निर्णय करने में शास्त्र ही तुम्हारा प्रमाण है। शास्त्र का विधान जानकर ही तुम्हें इस लोक में कर्म करना चाहिए। (गीता १६/२३-२४)

† तत्त्वदर्शी और ज्ञानी गुरुजन के चरणों में साष्टांग प्रणाम, प्रश्न तथा सेवा के द्वारा इस आत्मज्ञान की प्राप्ति करो, वे तुम्हें ज्ञान का उपदेश करेंगे। (गीता ४/३४)

यह सत्य है कि जब सर्वभूतों में भगवद्दर्शन होता है, तभी एकत्व-बुद्धि का उदय होता है। फिर उस व्यक्ति के लिए कोई भेदभाव नहीं रह जाता। तब माता-पिता तथा राह चलते लोगों की सेवा एक समान हो जाती है, क्योंकि सबमें एक ही भगवान विराजित दिखायी देते हैं। परन्तु यह बड़ी ऊँची अवस्था है। वैसा ज्ञान माता, पिता, गुरु और महात्माओं की सेवा से ही प्राप्त होता है, अतः उस ज्ञान की उपलब्धि के पूर्व तक माता-पिता को ही महागुरु मानना होगा और इसी में कल्याण भी है, क्योंकि उन्हीं की कृपा से हम वह परम ज्ञान प्राप्त करने के अधिकारी होंगे। सम्भवतः अब तुम समझ गये होंगे कि माता-पिता क्यों महागुरु हैं! उनका देहान्त होने पर सावधान क्यों रहना चाहिए, अब इसका कारण समझाने की आवश्यकता शायद न होगी। सावधान रहने का अर्थ है—ईश्वर से लगे रहना।

— १५ —

यह तुमने क्या लिखा? तुम अपने को पशुओं से थोड़ा ही उन्नत मानते हो? तुम्हारे हृदय में इतना प्रेम है! तुम कितने ही मनुष्यों की अपेक्षा भाग्यवान और श्रेष्ठ हो। अपने को वैसा मत समझना। स्वयं को भगवान का आश्रित और उनका अपना आदमी सोचना, इसी से उन्नति होगी। ठाकुर कहते थे कि जो 'मैं कुछ नहीं', 'मैं कुछ नहीं' कहा करता है, वह कुछ नहीं ही हो जाता है। स्वामीजी* भी इसी तरह के उपदेश देते थे और अपने को हीन मानने से मना करते थे। ठाकुर हम लोगों को

* स्वामी विवेकानन्द

सदा 'मैं उनका हूँ', यही सोचने का उपदेश देते थे। भगवान को अपना सम्पूर्ण मन-प्राण अर्पित करने का प्रयास करना—इसी से मंगल होगा।

— १६ —

तुमने कुछ और दिन जो योगाश्रम में रहने का निश्चय किया है, वह अति उत्तम है। परन्तु चंचल न होना—धीर स्थिर भाव का अवलम्बन करना। भीतर ही भीतर सर्वदा प्रभु का स्मरण बनाये रखना। विविध घटनाएँ मन को प्रभु के स्मरण से विच्छिन्न करना चाहती हैं। तथापि सावधानीपूर्वक स्मरण का अभ्यास दृढ़ करने में उपेक्षा न बरतना, प्राणपण से चेष्टा करते रहना। 'आँधी वृक्ष को जितना ही झकझोरती है, वृक्ष उतना ही दृढ़मूल होता है'—यह उपदेश सदा अपने मनश्चक्षुओं के सामने रखना। बाधाएँ व विपत्तियाँ जितनी ही अधिक होती हैं, उतनी ही ज्यादा सावधानी तथा प्रयास की भी आवश्यकता होती है। प्रभु की कृपा से जरूर सारी सुविधाएँ हो जाती हैं; आवश्यकता है तो केवल धैर्य की तथा अचल-अटल विश्वास की। फिर कोई भय नहीं। प्रभु के शरणागत होकर उन्हीं के स्मरण-मनन में दिन बिताओ, निःसन्देह भला होगा।

तुम चिन्तित न होना। प्रभु जहाँ रखेंगे, वहीं शुभ होगा। वे ही जानते हैं कि कहाँ रखने से तुम्हारा मंगल होगा। सब उन्हीं के हाथों में सौंप देने का प्रयास करना। तुम्हारा एकमात्र कर्तव्य है उन्हें न भूलना। वे तुम्हें जहाँ चाहें रखें, जैसे भी रखें, जो भी करायें—यह उनकी जिम्मेदारी है, तुम्हारा तो उन्हें न भूलने से ही

हुआ। कुछ दिनों तक निरन्तर इसी प्रकार अभ्यास करते रहने से सब सहज हो जाएगा। आन्तरिक भाव के साथ प्रार्थना करो कि वे तुमसे सदा ही अपना स्मरण-मनन कराते रहें। वे अन्तर्यामी हैं, ठीक-ठीक हो तो हृदय की प्रार्थना सुनते हैं।

सार बात यह है कि उतावले मत होना। मैंने जो कुछ कहा, मनोयोग के साथ उसकी धारणा और अभ्यास करने का प्रयास करना—यही मेरी हार्दिक इच्छा तथा अनुरोध है। ठाकुर सब ठीक कर देंगे।

— १७ —

उपनिषद्, गीता और शारीरक भाष्य ही वेदान्त के 'प्रस्थानत्रय' हैं। इनमें विशेष गति रखना प्रयोजनीय है। फिर प्रकरण ग्रन्थ भी अनेक हैं। उन सभी का अध्ययन करना कठिन है, तथापि उनमें पंचदशी, योगवाशिष्ठ तथा विवेक चूड़ामणि आदि ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं। पंचदशी अच्छी तरह पढ़ने से अद्वैत मत के मुख्य बातों की अच्छी जानकारी हो जाती है। परन्तु सर्वोपरि साधना की आवश्यकता है। वेदान्त की अनुभूति ही असल चीज है और वह साधना पर आधारित है। स्वाध्याय तो उसका सहायक मात्र है।

— १८ —

सत्संग तो तुम्हारा होता ही रहेगा। पर अभी भीतर में जो सत्स्वरूप हैं, उन्हीं का संग थोड़ा अधिक करने का प्रयास करना। बाहर का भी चाहिए, पर उसकी वे ही व्यवस्था करेंगे। हाँ, भीतर से तीव्र और आन्तरिक प्रार्थना होनी चाहिए। खूब प्रार्थनाशील होना। वे रक्षा

करेंगे। भय का कोई कारण नहीं। इस समय जो कार्य हाथ में है, उसी को अच्छी तरह करो। फिर जब प्रभु अन्य व्यवस्था करेंगे, तब उनके आदेशानुसार चलना। सब कार्यों में उन्हीं की इच्छा और शक्ति देखने का अभ्यास करना। इससे तुम्हें सारी चिन्ताओं से छुटकारा मिल जायगा। सुविधानुसार पढ़ना-लिखना, ध्यान-धारणा और मनःसंयम करते रहना। विद्याभ्यास करने की तुम्हारी इच्छा उत्तम है, इससे कल्याण ही होगा।

— १९ —

इस समय जैसे साधन-भजन कर रहे हो, वैसे ही किये जाओ। अनमनापन या ढिलाई मत लाना। मन की ऐसी अच्छी-बुरी अवस्था होती ही रहती है। पर इस कारण भजन में बाधा न पड़े। भजन करते करते मन फिर ठीक हो जाता है। इसके लिए चिन्तित होने की कोई आवश्यकता नहीं। सर्वदा सच्चिन्तन और सच्चर्चा करना। मन को क्षण भर के लिए भी असत् विषयों में न जाने देना। तुम्हारी उम्र अभी कम है—इस समय तुम्हें खूब सावधान रहना चाहिए। विनय का खूब अभ्यास करना। न तो एकदम उत्फुल्ल हो उठो और न ही अवसन्न बनो। सर्वदा भगवान का स्मरण-मनन करना और उनके अनुगत होकर दिन बिताना।

— २० —

ध्यानपूर्वक देखो तो पाओगे कि कोई भी व्यक्ति बातें किये बिना थोड़े समय भी नहीं रह सकता। यदि वह किसी के साथ बातें न भी करे, तो मन ही मन करेगा। सोचना-विचारना अपने आप से बातें करना

नहीं तो और क्या है ? बात किये बिना रह पाना सम्भव नहीं । जब ऐसा ही है तो फालतू बकवास न कर भगवान का नाम जपना क्या श्रेयस्कर नहीं है ? जब लोगों के साथ बातें करूँगा तो अवश्य ही बहुत कुछ कहना होगा, परन्तु जब अकेला रहूँगा उस समय क्यों फालतू बातें सोचूँगा ? भगवान का नाम जपना ही सर्वोत्तम है— इस भावना को दृढ़ करने के लिए जप का अभ्यास करने की आवश्यकता है ।

भगवन्नाम के उच्चारण को जप कहते हैं । जप की अपेक्षा ध्यान श्रेष्ठ है । ठाकुर कहते थे—

पूजा से है जप बड़ा, जप से बढ़कर ध्यान ।
ध्यानसिद्ध जो व्यक्ति है, मुक्ति उसी की जान ।।

जप करते समय 'नाम और नामी अभेद हैं' ऐसा सोचते हुए उनका चिन्तन करना चाहिए । जो नाम है, वही नामी है अर्थात् नाम लेने से नामवाले का बोध होता है । भीतर वे सत्स्वरूप विराजमान हैं इसीलिए ध्यान में आनन्द मिलता है । यह भाव क्रमशः घनीभूत हो जाने पर उनकी अनुभूति होती है ।

धीरे-धीरे सब होगा । एक दिन में कुछ होनेवाला नहीं है । ध्यान में आनन्द मिलना—यह भी क्या कम बात है । मन में जब धन-दौलत कमाने की इच्छा उत्पन्न हो, तो विचार करना कि रुपये-पैसे से क्या होता है, बहुतों के पास तो सम्पत्ति है, पर उनकी हालत कैसी है ! इत्यादि । ठाकुर कहते थे, "जड़ के द्वारा जड़ की ही प्राप्ति हो सकती है, सच्चिदानन्द की नहीं । . . .रुपया भात-दाल, कपड़े-लत्ते आदि दिला सकता है, भगवान

की प्राप्ति नहीं करा सकता।" यही सब विचार करना।

प्रभु की कृपा से यथासमय सब हो जाएगा। इस समय बस उनकी शरण लेकर बढ़ चलो। चिन्ता बिल्कुल भी मत करना। प्रभु मंगलमय हैं। उन्हीं पर सारा भार सौंप देना सबसे अच्छा है। जैसा चल रहा है चले, फिर उनकी जब इच्छा दूसरे प्रकार से चलायें। परन्तु यह बात निश्चित रूप से जान लेना कि वह भी तुम्हारे भले के लिए ही होगा।

– २१ –

तुमने बहुत अच्छा प्रश्न किया है। प्रश्न देखकर ही तुम्हारा मनोभाव समझ में आ रहा है और वह यह कि तुम क्रमशः आध्यात्मिक उन्नति करते जा रहे हो। इस प्रश्न का उत्तर पत्र में लिख कर समझाना कठिन है, तथापि प्रयास करता हूं।

कुलकुण्डलिनी आत्मा की ज्ञानशक्ति है। चैतन्यमयी, ब्रह्ममयी आदि नामों से वह सभी जीवों के अभ्यन्तर में विराज रही है, पर अभी वह प्रसुप्तावस्था में है––मानो सो रही है। उसका स्थान गुह्यदेश में स्थित आधारपद्म में है। योगियों के ध्यानार्थ शरीर में छह पद्म हैं। शरीर के भीतर ही इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाम की तीन नाड़ियाँ भी हैं। कुण्डलिनी सुषुम्ना मार्ग से होते हुए जब परमशिव से मिलती है, तब मनुष्य को ज्ञान होता है। उपासना से सन्तुष्ट होने पर ही वह जागती है। उसके जागने पर अनेक दर्शनादि होते हैं। परमशिव का स्थान मस्तिष्क में है। गुह्यदेश में सर्पाकार शक्ति जागकर जब सुषम्ना-पथ से होकर मस्तिष्क में पहुंचती है और वहाँ विराजमान परम-

शिव के साथ मिलती है, तब जीव को चैतन्य होता है। योग, उपासना और ध्यान आदि अनेक उपायों के द्वारा उसे जगाया जाता है। जब वह जागती है तो ज्योतिदर्शन, देवों के रूपदर्शन आदि अनेक अद्‌भुत आध्यात्मिक अनुभूतियाँ होती हैं। गुरु की कृपा से कभी-कभी वह अपने आप भी जाग जाती है। गुह्य में, लिंगमूल में, नाभि में, हृदय में, कण्ठ में तथा भौहों के बीच छह पद्‌म अवस्थित हैं; क्रम से उनके नाम हैं—आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा। शरीर में बायीं ओर इड़ा, दाहिनी ओर पिंगला और बीच में सुषम्ना नाड़ी विद्यमान है। सुषम्ना का मार्ग बन्द है और कुण्डलिनी का जागरण होते ही वह खुल जाता है।

– २२ –

शंकराचार्य की 'प्रश्नोत्तरमाला' पढ़ने पर देखोगे कि वहाँ भी यही प्रश्न किया गया है—

को वा गुरुर्यो हि हितोपदेष्टा ।
शिष्यस्तु को यो गुरुभक्त एव ।।७।।

अर्थात् गुरु कौन है ? वह जो हितकर उपदेश दे। और शिष्य कौन है ? वह जो गुरुभक्त हो, गुरु का आदेश पालन करता हो और उनकी सेवादि में तत्पर रहता हो। हित का अर्थ है परमार्थ और अहित का अर्थ है संसार। गुरु वे हैं जो भगवान की ओर ले जाते हैं तथा वासनारूपी संसार की निवृत्ति करते हैं। और जो ऐसे उपदेष्टा की बातें सुनता है और उनकी परिचर्या करता है वह शिष्य है।

गुरु-शिष्य के बीच का सम्बन्ध पारमार्थिक पिता-पुत्र के सम्बन्ध जैसा होता है। पिता जन्म देते हैं और गुरु

परमपद दिखाकर जन्म-मरण से उद्धार कर देते हैं। पितृऋण तो सन्तानोत्पादन और श्राद्ध आदि क द्वारा पटाया जा सकता है, परन्तु गुरु अविद्या से पार करते हैं अत: सर्वस्व अर्पित करने पर भी उनके ऋण से उऋण नहीं हुआ जाता।

मंत्र उस शब्द या नाम को कहते हैं जो मन को विषय से बचाकर भगवान की ओर ले जाता है। मंत्रग्रहण से तात्पर्य है—गुरु से प्राप्त मंत्र के अनुष्ठान द्वारा मन को विषयों से निकालकर प्रभु के पादपद्मों में स्थापित करना और यही मानव जीवन का उद्देश्य है। यह कर पाने से नरदेह-धारण सार्थक और धन्य हो जाता है। और यह न कर सके तो सियार-कुत्तों के समान आहार, निद्रा तथा मैथुन का आचरण करते हुए, बारम्बार जीवन-मृत्यु के अधीन होकर कभी मनुष्य, कभी पशु-पक्षी, तो कभी वृक्ष-शिला आदि होकर महामाया के इस संसार नामक चक्र में अनादि-अनन्त काल तक भ्रमण करते रहना पड़ता है। इसीलिए तो भगवान ने कृपापूर्वक गीता में उपदेश दिया है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥९।३३

—"इस अनित्य और दु:खपूर्ण संसार में आकर एकमात्र मेरा ही भजन करो अन्यथा दु:खभोग अवश्यम्भावी है।"

C

पुस्तक समीक्षा

साहित्य वीथि

पुस्तक का नाम — विवेकानन्द : एक जीवनी
लेखक — स्वामी निखिलानन्द
अनुवादक — स्वामी विदेहात्मानन्द
प्रकाशक — अद्वैत आश्रम,
५ डिही एण्टाली रोड, कलकत्ता-७०००१४
संस्करण — प्रथम, सितम्बर १९८९
पृष्ठ संख्या — ६ + ३७४
मूल्य — २० रु.

स्वामी विवेकानन्द में ऐसे अलभ्य गुणों का अपूर्व समावेश था जिनमें से एक गुण की प्रखरता ही व्यक्ति को प्रसिद्धि के चरमोत्कर्ष में ले जा सकती है। वे महान देशभक्त थे, चिन्तक और समाज सुधारक थे। वे एक प्रखर लेखक और उच्चकोटि के कवि थे। वे एक अप्रतिम संगीतज्ञ थे जिनके गीतों को सुनकर श्रीरामकृष्ण समाधि में चले जाते थे। सर्वोपरि वे महान आध्यात्मिक मनीषि थे। यह उनकी आध्यात्मिकता ही थी जो इन विभिन्न विधाओं के रूप में प्रकट हुई थी। उन्होंने अपने पवित्र जीवन तथा अद्भुत वाग्मिता के द्वारा पाश्चात्य देशवासियों को यथार्थ धर्म और अध्यात्म से परिचित कराया तथा घोर तमोगुण में डूबे हुए भारत को अपनी अमृतमयी वाणी से उद्बुद्ध करके जगाया तथा व्यक्ति के भीतर अवस्थित दिव्यता को उद्घाटित करने का मूल मंत्र दिया। अपने प्रेरणामय व्याख्यानों के द्वारा उन्होंने देश के नवयुवकों में असीम साहस और आत्मविश्वास की सृष्टि की, जिससे वे मातृभूमि की स्वाधीनता के लिए आत्म बलिदान करने के लिए प्रेरित हुए। स्वामी विवेकानन्द अध्यात्म के पुरोधा थे। ज्ञानयोग, भक्तियोग, राजयोग तथा कर्मयोग पर लिखी उनकी पुस्तकों के पन्नों में बिखरे उनके अगणित व्याख्यान सारे मानव समाज के लिए एक अमूल्य धरोहर हैं।

प्रस्तुत पुस्तक स्वामी निखिलानन्द द्वारा अंग्रेजी में लिखी 'विवेकानन्द : ए बायोग्राफी' का हिन्दी रूपान्तर है। हिन्दी में स्वामीजी के जीवन पर लिखी अथवा अनूदित प्रामाणिक ग्रंथों का बड़ा अभाव रहा है। यह पुस्तक बहुत अंशों में उसकी पूर्ति करेगा। इसमें स्वामीजी के व्यक्तित्व तथा कृतित्व के समग्र पक्षों का, प्राच्य और पाश्चात्य देशों में उनके कार्यों और प्रभावों का बड़ा सन्तुलित विवेचन हुआ है।

इस पुस्तक का अनुवाद स्वामी विदेहात्मानन्द ने किया है जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम रायपुर के अन्तेवासी हैं। उनके सौष्ठव तथा सुललित भाषा में रूपान्तर को पढ़ने से मूल ग्रन्थ के पठन का सा आनन्द मिलता है। इसमें मूल ग्रन्थ के भाव अक्षुण्ण बने हुए हैं।

पुस्तक की छपाई सुन्दर है। अपनी उपादेयता के फलस्वरूप यह पुस्तक सभी के लिए पठनीय तथा संग्रहणीय है।

(२)

पुस्तक का नाम — श्रीरामकृष्ण के दिव्य दर्शन
लेखक — स्वामी योगेशानन्द
अनुवाद — स्वामी विदेहात्मानन्द
प्रकाशक — अद्वैत आश्रम,
५ डिही एण्टाली रोड, कलकत्ता-७०००१४
संस्करण — प्रथम, अगस्त १९८९
पृष्ठ संख्या — ६+१३६
मूल्य — १० रु.

श्रीरामकृष्ण आध्यात्मिकता की जीवन्त मूर्ति थे। रोमाँ रोलाँ ने सन् १९२६ में लिखा था कि वे भारत की तीस करोड़ जनता के के दो हजार वर्षों के आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता के प्रतीक हैं।

यथार्थ में श्रीरामकृष्णदेव ने अपने पचास वर्ष के अल्प जीव में आध्यात्मिक जीवन की गहराइयों को समग्रता के साथ मापा उन्होंने हिन्दू धर्म के समस्त प्रमुख मतों की साधनाएँ की थी फलस्वरूप उन मतों के मूल तत्त्वों की उपलब्धि की थी। उ अपनी तीव्र व्याकुलता के बल पर काली माता का दर्शन लाभ f था तथा वैष्णव मत की साधना के दौरान उन्हें सीता, राम, र कृष्ण, चैतन्य आदि अवतारी विभूतियों के दर्शन हुए थे। इतन नहीं अपने साधनाकाल में उन्हें अनगणित देवी देवताओं के अलौ दर्शन भी प्राप्त हुए थे। वेदान्त की साधना में उन्होंने तीन ही f में मानव-जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य – निर्विकल्प समाधि की उपल की थी। यही नहीं उन्होंने इस्लाम और ईसाई धर्म की भी सा की थी तथा उन धर्मों के मूल तत्त्वों की अनुभूति की थी।

उनके इन समस्त साधनाओं तथा दर्शनों का सजीव वर्णन प्रस्तुत पुस्तक में प्राप्त होता है। यह पुस्तक 'दि विज़न ऑफ श्रीरा कृष्ण' जिसके लेखक स्वामी योगेशानन्द हैं, का हिन्दी अनुवाद इसमें लेखक ने बड़ी खूबी के साथ श्रीरामकृष्णदेव को प्राप्त विभि अनुभूतियों और दर्शनों का सविस्तार वर्णन किया है जिसके फलस्व यह पुस्तक आध्यात्मिक साधकों तथा जिज्ञासुओं के लिए अत्य उपादेय हो गयी है।

मूल पुस्तक की विशेषताओं को बनाये रखते हुए इसका अनुवा स्वामी विदेहात्मानन्द ने बड़ी प्रांजल और रोचक भाषा में किया है जिसमे यह न केवल आध्यात्मिक धर्म पिपासुओं वरन् समस्त जनसाधारण को एक अलभ्य पाठ्य-सामग्री प्रदान करता है।

पुस्तक का मुखपृष्ठ आकर्षक है तथा छपाई उत्तम है।

–स्वामी निखिलात्मानन्द